DAMAGE BOOK

मैथिलीशरण गुप्त

रामरतन भटनागर एम० ए०, डी० फ़िल०

आलोचना व निबन्ध



किताब महल * इलाहाबाद

विषय-सूची

१

भूमिका : द्विवेदी-युग की कविता

बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों (१९००-१९२०) को हम द्विवेदीयुग कहते हैं। इन बीस वर्षों में साहित्य के क्षेत्र में एक महान क्रांति हुई, विशेषतः कविता के क्षेत्र में, और द्विवेदीजी (महावीरप्रसाद द्विवेदी) द्वारा संपादित सरस्वती इस क्रांति का माध्यम थी। इस क्रांति को समझने के लिये द्विवेदी युग की सामाजिक और साहित्यिक भावनाओं और पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी की रचनाओं और प्रवृत्तियों से परिचय पाना आवश्यक है। वही इस युग के युग-पुरुष थे। भारतेन्दु (१८५०-१८८५) के बाद इन पन्द्रह वर्षों तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उन्हीं प्रवृत्तियों का विकास होता रहा जिनका जन्म उनके द्वारा हुआ। पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट ने हरिश्चन्द्र के बाद इन प्रवृत्तियों के विकसित करने में सबसे महत्वपूर्ण भाग लिया। परन्तु भारतेन्दु के बाद द्विवेदीजी के समय तक कोई इतना बड़ा व्यक्तित्व साहित्य में नहीं आया जो उसका नियमन, संगठन और संचालन कर सकता। १९०० ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन में प्रयाग से सरस्वती निकलने लगी। १९०३ में द्विवेदीजी सम्पादक के रूप में इस मासिक पत्रिका से संबंधित हुए और कुछ ही वर्षों में उन्होंने इस पत्रिका द्वारा हिंदी भाषा और साहित्य को इतनी नई गति-विधियाँ दीं कि भारतेन्दु युग की भाषा और साहित्य की धारा ने नया रूप ही ग्रहण कर लिया।

कविता को द्विवेदीजी ने दो तरह से प्रभावित किया। एक तो आचार्यत्व और नेतृत्व द्वारा और दूसरे स्वयं कविता के रूप में नये काव्य को कवि-कर्मियों के सामने रख कर। आचार्य द्विवेदी का पहला रूप ही विशेष महत्वपूर्ण है। 'सरस्वती' में समय-समय पर काव्य-रचना और काव्य-संबंधी जो सिद्धान्त उन्होंने रखे उन्होंने हिन्दी काव्य की काया ही पलट दी, परन्तु स्वयं द्विवेदीजी में इतनी काव्य-प्रतिभा नहीं थी कि वह कवि के रूप में इस युग के नेता बनते। इसी से द्विवेदी युग के विशिष्ठ कवि श्रीधर पाठक, पं० अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त हैं, द्विवेदी नहीं हैं। वे आचार्य के रूप में ही मान्य हैं। कवि के रूप में उनकी रचनाएँ १६०५ से पहले ही आरम्भ हो जाती हैं। (विद्याविनोद १८८६), विहारबाटिका (१८६०), स्नेह माला (१८६०), ऋतुतरंगिणी (१८६१), देवी स्तुति शतक (१८६२) और नागरी १६००। १६०३ में काव्य मंजूषा नाम से स्फुट कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। इसके बाद जो उन्होंने लिखा, उसमें गद्य की मात्रा ही अधिक रही। कविताएँ बहुत थोड़ी रहीं और साहित्य प्रेस चिरगाँव से प्रकाशित 'सुमन' ग्रन्थ (१६२३) में उनका संग्रह हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य के रस में द्विवेदीजी ने इतना नहीं दिया कि उन्हें नेतृत्वकारी स्वीकार किया जाय। 'सुमन' वास्तव में काव्य मंजूषा का ही संपादित संस्करण है और अन्य रचनाएँ विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। केवल काव्यमंजूषा (१६०३) के बल पर द्विवेदी द्विवेदी युग के काव्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। परन्तु द्विवेदी के अनूदित काव्य में एक महत्वपूर्ण वस्तु हमारे सामने आती है। वह 'कुमार संभव सार' कालिदास के 'कुमार संभव' के पांच सर्गों का पद्यात्मक अनुवाद (१६०२) है। इस अनुवाद में हम द्विवेदीयुग की कविता का चरमोत्कर्ष पाते हैं। उदाहरण

के लिए एक पद्य लीजिये।

यक्षराज जिसका स्वामी है, उसी दिशा की ओर प्रयाण
करते हुए देख दिनकर को उल्लंघन कर समय-विधान
मन में अति दुःखित सी होकर हुआ जान अपना अपमान
छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास समान

१४ वीं शताब्दी में तो ब्रजभाषा का ही बोलबाला रहा। खड़ी शैली की कविता का जन्म तो १८८४ के लगभग उन कुछ कविताओं में हुआ जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भारतमित्र में प्रकाशित कराई थीं। परंतु १९०० ई० तक इस नई भाषा में काव्य की कोई महत्व की रचना सामने नहीं आती। स्वयं द्विवेदीजी की रचनाएँ संस्कृत के छंदों में लिखी होने के कारण अत्यंत क्लिष्ट और काव्य-गुण-हीन हैं। इसी से १९०८ में 'कुमार संभव' का प्रकाशन आधुनिक कविता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना समझी जानी चाहिये क्योंकि इस रचना में हमें पहली बार खड़ी बोली का साहित्यिक काव्य-गौरव दिखलाई पड़ता है और बाद में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस काव्य की रचना-शैली से विशेष प्रभाव ग्रहण किया। द्विवेदीजी की पहली कविता 'विनय-विनोद' (१८८९) ब्रजभाषा में है। 'गंगा लहरी' संस्कृत की इसी नाम की पुस्तक का अनुवाद है। 'वसंत तिलका' छंद में ब्रजभाषा में यह अनुवाद इतना अस्वाभविक हुआ है कि उसे किसी प्रकार काव्य कहना ही अनुचित होगा। एक अवतरण लीजिए—]

विभञ्जितानंगरिगृत्तगांगा सद्यः कृतानेक जनार्ति भङ्गा
मनोहरोत्तुंग चलत्तरंगा गङ्गा ममांगान्यमलीकरोतु

आभूषिता तनु बिनाशक श्रेष्ठ अंगा
शीघ्र कृतामृत मनुष्य क्लेश भङ्गा

सौन्दर्यमान अति तुंग चलत्त तंङ्गा
मो अंग सो करहि पावन मातु गङ्गा

स्पष्ट है, खड़ी बोली की संस्कृति गढ़ने में इस कविता से विशेष सहायता नहीं मिल सकती थी। खड़ी बोली में मुक्तक कविताओं के रूप में उन्होंने विशेष लिखा भी नहीं। उनकी सारी खड़ी बोली की मुक्तक रचनाओं की संख्या २९ है। काव्य मंजूषा (१८९५—१९०२) में छः कविताएँ खड़ी बोली में हैं और 'सुमन' (१९९५—१९२०) में २३ कविताएँ। इन खड़ी बोली की कविताओं में परस्पर बड़ी भिन्नता है। जहाँ संस्कृत छंद में द्विवेदी इतनी क्लिष्ट कविता लिखते हैं—

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से बिचारे
होते - प्रकंप - परिपूर्ण मनुष्य सारे

क्या वह्नि है ? विशिख है ? अहि है विसारी
किवाल विशा-तम-तोम हृढाग धारी

पृथ्वी - समुद्र - सरिता-नर - नाग - सृष्टि
मांगल्य मूलमल वारिद वारि वृष्टि

कर्त्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
व्यापार-भार सहता-रहता महाना

विस्तिर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता
स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता

जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता
तो मूल्यवान फिर क्यों निज काल खोता

वहाँ सीधा-सादा अत्यंत प्रवाहमय व्यंग काव्य भी लिख सकते है। 'सरस्वती' (भाग २, संख्या ८) में उन्होंने ग्रंथकार-लक्षण कविता लिखकर हिंदी के ग्रंथकारों को झकझोर दिया था—

इधर-उधर से जोड़-बटोर
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़
इस प्रदेश में वेही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं

'विधि-विडम्बना' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अख़बार

धर्माचार्यों पर उन्होंने व्यंग किया—

दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है
कुत्सित कर्म-कुशल कुटिलों को अदरश उपजाता है
मूर्ख धनी, विद्वज्जन निर्धन, उलटा सभी प्रकार
तेरी चतुराई को ब्रह्मा बार बार धिक्कार

परन्तु शुद्ध व्याकरण सम्मत काव्य की रचना पर ही इति-श्री नहीं हो जाती। कहीं-कहीं, विशेषतः 'कुमार संभव सार' में वे अत्यंत चित्रमयी रचना में भी समर्थ हुये है जैसे

पादपीठ को शोभित करते
हुए इंद्र ने इतने पर
जंघा से उतार कर अपना
खिले कमल सम पद सुन्दर
निज अभिलषित विषय में सुनकर
मन्मथ का सामर्थ्य महा
इससे अति आनन्द - पूर्वक
समयोचित इस भाँति कहा

आज १९४७ में छायावादी कवियों के महान कला-प्रयत्नों के बाद चाहे ऊपर की पंक्तियाँ बालक के अटपटे हाथों की रूप-रेखा-मात्र लगें, इसमें सन्देह नहीं कि १९०२ में इस प्रकार की

पंक्तियों का नितांत अभाव था और १९१०—१२ तक भी इस प्रकार की कवितायें अधिक नहीं लिखी गईं। आधुनिक कविता में खड़ी बोली के प्रयोग (१८८४) के १९-२० वर्ष बाद इतना चमत्कार लाना सरल बात नहीं फिर विशेषतः उस समय जब खड़ी बोली में कविता हो ही नहीं रही थी और बराबर ब्रजभाषा में ही काव्य लिखा जा रहा था। इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदीजी की कविताओं ने समकालीन कवियों को प्रभावित किया और उनके कविता-संबंधी सिद्धांत अनेक नये कवियों के लिये वेदवाक्य बन गये। मैथिलीशरण गुप्त को तो द्विवेदीजी ने ही कवि बना दिया, इसमें भी कोई संदेह नहीं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक कविता के इतिहासकार को द्विवेदीजी के सिद्धांतों और उनकी कविता पर विशदरूप से विचार करना पड़ेगा।

'कवि और कविता' शीर्षक अपने एक निबंध में द्विवेदीजी ने कविता के सम्बन्ध में विवेचना की है। इस निबंध में दी हुई उनकी मान्यताओं को हम नीचे देते हैं:—

१—किसी किसी में कविता लिखने की प्रतिभा स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है।"

२—"जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य लाभ पहुँचेगा।"

३—"कविता यदि यथार्थ में कविता है तो यह संभव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो।"

४—"सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।"

५—"कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत।"

६—"संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिये। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। इसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रगट करता है, तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है।

७—"सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिये। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिये। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।"

८—"शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है।"

९—"वही तुक वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नखशिख, नायिकाभेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले आते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते।"

१०—"जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते आये हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों के ही प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल

का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों के ही हाथ में रहता है।"

११—"नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं है।"

१२—"जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है।"

१३—"गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है।"

१४—"तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबंदी का है और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद किसी भाषा में हो।"

१५—"यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादिता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए।"

१६—"पद्य के लिये काफ़िये वग़ैरह की जरूरत है, कविता के लिये नहीं। कविता के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उलटी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि के ढूँढने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है।"

१७—"जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रगट की जाय कि सुनने वालों पर उसका कुछ का कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है।"

१८—"कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना या इमैजिनेशन (Imagination) की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए

उपज चाहिये। नए-नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसीलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को ही प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती।"

१६—"कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। × × जिस कवि में प्राकृतिक सृष्टि और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।"

२०—"प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिये। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार-तरंगें उसके मन में उठा करती हैं। इन विकारों की जाँच ज्ञान का अनुभव करना सब का काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है।

२१—"कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। × × मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होते हैं। अतएव सयुक्ति शब्द-स्थापन के बिना कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्दस्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफ़ी शब्दसमूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए।"

२२—"कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि शब्दसमूह ही सादा हो, परन्तु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार

ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उसका मतलब समझ में न आवे या देर से समझ आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो वह इतनी दूर न हो, जो उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। × × असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। × × शब्द और अर्थ दोनों ही के संबंध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को करना चाहिए। × × जोश से यह मतलब है कि कवि जो कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गये हैं। × × जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। काव्य वस्तु को देख कर किसी अदृश्यशक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिये विवश-सा हो जाता है उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी इसमें अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इसमें आज चाहे क्रांतिकारी बातें अधिक नहीं हों, परंतु रीतिकाव्य के सम्मुख रखने पर इन विचारों की प्रगतिशीलता आज भी समझी जा सकती है। भाषा के संबन्ध में तो द्विवेदी जी पहले से निश्चित थे, यह कहा ही जा चुका है। उन्होंने सरस्वती में स्पष्ट ही लिखा—"ब्रजभाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय गया। अब फिर नहीं आने का। ब्रज की बोली में कविता न करने या उस बोली को न जानने वाले चाहे लंगूर बन जायें चाहे गीदड़

इससे बोलचाल की भाषा की कविता का प्रवाह बंद न होगा। (सरस्वती, १५-४-२२८) भाषा के बाद छंद की बात आती है। द्विवेदी किन्हीं विशेष छन्दों के पक्षपाती नहीं थे, परंतु उन्होंने संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का अपने काव्य में विशेष रूप से प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी के खड़ी बोली के कवियों ने जनगीतों में प्रचलित कजरी, लावनी, खयाल, चौबोला इत्यादि के छंदों का प्रयोग किया था। ये छन्द हिंदी की संस्कृति के अधिक निकट थे। परंतु द्विवेदी जी संस्कृत काव्यों के प्रेमी थे और अपने महाराष्ट्र प्रवास में वे मराठी कविता से परिचित हो गये थे। "मराठी में बंगला-की-सी कोमल-कांत पदावली नहीं है। पर द्विवेदी जी ने, इसी ढंग पर, संस्कृत वृत्तों में ही आरम्भ में कविता करना शुरू किया था। जब वे ब्रजभाषा में लिखते थे तब उसमें उन्होंने ऐसे छंदों का प्रयोग किया और बाद में खड़ी बोली में भी।" (द्विवेदी मीमांसा, पृ० १४८) जो हो, यह निश्चित था कि द्विवेदी जी के कारण हिंदी की कविता ने नई गति-विधि ग्रहण की। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी छन्दों का प्रयोग हुआ था,सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर कविताएँ लिखी गई थी, भाषा के क्षेत्र में तत्समता को अधिक स्थान नहीं मिला था। द्विवेदीजी ने कवियों के छन्दों और विषयों के प्रयोग के संबंध में एक निश्चित सीमा निर्धारित कर दी। इससे द्विवेदी युग में हिंदी काव्य का एक नया ही रूप सामने आया।

ऊपर द्विवेदीजी के निबंध से जो उद्धरण लिये गये हैं उनके आधार पर हम द्विवेदी युग के काव्य की कुछ सीमाएँ निर्धारित कर सकते हैं—"१—कविता का रूप—कविता उस ईश्वर, प्रदत्त शक्ति की उपज है जिसे प्रतिभा कहते हैं (ख) उसका प्रधान अंग कल्पना है, अतः थोड़े-बहुत झूठ का समावेश

इसमें रहता है (ग) गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है।

२—विषय—(क) प्रकृति (ख) मानव-स्वभाव (ग) सामाजिक और राजनैतिक विषय कविता के उपयुक्त नहीं (घ) कल्पना

३—लक्ष्य (क) मनोरंजकता (ख) प्रभावोत्पादिता (ग) समाज को लाभ

४—छन्द (क) तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं। (ख) नये छन्दों का प्रयोग हो जो उपयुक्त भावों के उपयुक्त वाहन हो सकें (ग) [द्विवेदी जी की विशेष अभिरुचि संस्कृत छन्दों (वर्णवृत्तों) की ओर है] (घ) "अमित्राक्षर छंद बंगला में लिखे जा सकते हैं और बड़ी योग्यता म लिखे जा सकते हैं, तब हिन्दी में भी उनका लिखा जाना संभव है" ('सरस्वती', जुलाई-अगस्त १९०३)

५ शैली (क) असाधारण और निराले ढंग का प्रयोग (ख) उपयुक्ततम शब्दों और मुहावरों का प्रयोग। इनके लिए काफ़ी बड़े शब्द-समूह का ज्ञान चाहिये और शब्द-स्थापन की अंतर्दृष्टि भी हो। (ग) जिस क्रम से सब लोग बोलचाल में उस भाव का प्रकाशन करते हों, वही क्रम कविता में भी प्रयोग में लाया जाय।

स्वयं पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी कविताओं में इन आदर्शों को निभाने की चेष्टा की परंतु वे सदैव सफल रहे हों, ऐसी बात नहीं। परंतु काव्यक्षेत्र में द्विवेदीजी का सब से बड़ा काम मैथिलीशरण गुप्त का निर्माण था। गुप्तजी की सारी कविता, उनकी जीवन-व्यापी साधना द्विवेदीजी के आदर्शों पर ही अवलंबित है और इस साधना ने हमें कुछ अत्यंत महत्व-पूर्ण चीज़ें दी हैं।

खड़ी बोली और उसकी प्रारंभिक कविता के जन्म और विकास पर विचार करना भी उपादेय होगा। इससे हम द्विवेदी जी और उनके काव्य के महत्व को भली भाँति समझ सकेंगे।

नवीं शताब्दी में मुसलमानों के भारतवर्ष में आ जाने और कुछ दिनों बाद पंजाब और पश्चिमी हिन्दीप्रदेश में बड़ी संख्या में बस जाने के कारण भाषा के संबंध में एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई। गुप्त काल (३१९ ई०—४९८ ई०) में उत्तरी भारत में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश और महाराष्ट्री भाषाएँ चल रही थीं और परस्पर व्यवहार के द्वारा इन भाषाओं के सामान्य रूपों को लेकर एक सामान्य भाषा ने जन्म लिया। सातवीं शताब्दी में राजपूत-गुर्जर सामंतों में इस भाषा का बहुत प्रचार हुआ और अनेक राजपूत-गुर्जर ध्वनियों का समावेश हो गया। इस भाषा को अभी कोई नाम नहीं दिया गया है परंतु चंद की 'षट् भाषा' का बहुत कुछ ढाँचा इस भाषा पर खड़ा होगा। राजपूत काल (६०० ई०—१२००) में यह भाषा सारे उत्तर भारत और दक्षिण में कोकन-प्रदेश तक सामान्य आदान-प्रदान की भाषा रही होगी। इसे हम प्राचीन हिंदवी या प्राचीन-तम खड़ी बोली कह सकते हैं। अमीर ख़ुसरो (१२५३ ई०—१३२५ ई०) ने अपने समय की उत्तर भाषाओं में लाहौरी और दिल्ली और उसके आस-पास की भाषाओं का उल्लेख किया है। मुसलमानों के आने तक इस सामान्य भाषा का कोई साहित्य नहीं था। वह सामान्य बोलचाल की भाषा मात्र थी। यह सामान्य भाषा लाहौर, मुलतान और दिल्ली की भाषाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती रही होगी। डॉ० मोहनसिंह के अनुसार 'हिंदवी कविता' का समय ११७३ ई०—१५८० ई० है। इस हिंदवी कविता के अनेक कवियों की रचनाएँ अब उपलब्ध हो गई हैं। १४०० ई० तक प्रसिद्ध हिन्दी कवियों में प्रमुख ख़ुसरो

(१२५३—१३२५, दिल्ली) और सैयद मुहम्मद गैसूदराज़ बन्दा नवाज़ (मृ० १४८१, दकन) हैं। इन कवियों में खुसरो का ही हिंदवी साहित्य अधिक मात्रा में (पहेलियों, मुकरियों, दोसखुनों, ढकोसलों और ग़ज़ल के रूप में) हम तक चला आता है, परंतु मौखिक रूप में चलते रहने के कारण उसमें भाषा का पुराना रूप बहुत कम रह गया है। यह हिंदवी काव्य लाहौर, दिल्ली और मुलतान के केन्द्रों से संबंधित है जो उस समय मुसलमानों के केन्द्र थे।

नाथ-पंथियों और संतों के काव्य में भी सामान्य खड़ी बोली का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। १४०० ई० के बाद हमें निश्चित रूप से खड़ी बोली (हिंदवी, दकनी) की रचनाएँ मिलने लगती हैं। इस समय इस भाषा का मुख्य केन्द्र दक्षिण में था और यह 'दकिनी' नाम से प्रसिद्ध थी। इस युग का भी मुख्य साहित्य आध्यात्मिक है। १३ वीं शताब्दी ईसवी में दकन इस्लामी सूफ़ी कवियों का केन्द्र बन रहा था और साधारण जनता में उनकी विशेष मान्यता थी। मलिक काफ़ूर (१२९४-१३११), मुहम्मद तुग़लक़ (१३३६ ई०) और हसन गंगू की विजयी सेनाओं ने उत्तरी हिंदवी भाषा और संस्कृति को दक्षिण में पहुँचा दिया। अनेक सैनिक बहमनी राज्य (१३३७-१५१८) में बस गये और इस प्रकार उत्तर की हिंदवी और दक्षिण की दकिनी में योग हुआ। कबीर के समय (१२९९ ई०—१३९८ ई०) तक हिंदी भाषा का रूप-रंग काफ़ी विकसित हो गया था। यह कबीर की रचनाओं से स्पष्ट है। लौकिक हिन्दवी काव्य का प्रारंभ मुहम्मद कुली क़ुतबशाह से होता है जिन्होंने मुसलमान त्योहारों, इस देश के फल-फूलों, पशु-पक्षियों पर कविताएँ लिखीं। उत्तर भारत में 'नज़ीर' ने भी इस तरह की कविताएँ लिखीं, परन्तु बाद को। धीरे-धीरे हिन्दवी काव्य पर

फ़ारसी भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा परन्तु १६०० ई० तक यह प्रभाव अधिक नहीं था। इस समय खड़ी बोली दूर-दूर तक बोली समझी जाने लगी थी। खड़ी बोली की इस व्यापकता का लाभ उठाकर मुसलमान पीर, सूफ़ी, संत इसी को जनता में प्रचार का साधन बनाते थे। उस समय खड़ी बोली कविता का प्रचलित रूप इस उद्धरण से समझ में आ सकता है जो मुहम्मद अफ़ज़ल की 'विकट कहानी' से लिया गया है—

चढ़ा सावन बजा मारू नागाड़ा। सजन बिन कौन है साथी हमारा
घटा कारी ओ मदमाती यों आई। विरहों की फ़ौज़ ने कीनी चढ़ाई
पपीहा पीउ पीउ निसदिन पुकारा। पुकारत दादुर ओ चिंघर जंगारा
अरी जब कूक कोयल नैं सुनाई। तमामी तन-बदन में आग लाई
अँधेरी रैन जुगनू जगमगाता। अरी जलती उपर है क्या जलाता

स्पष्ट है कि इस काव्य के पीछे हिन्दी काव्य की प्रेरणा ही नहीं है, यह हिन्दी काव्य ही है। इस समय के सारे सूफ़ी साहित्य में एवं लौकिक हिन्दवी और दकिनी काव्य में हिन्दी मुहावरे, हिन्दी शब्द, हिन्दी साहित्य-परम्परा, हिन्दी भाषा अपने विकृत रूप में मिलते हैं। खड़ी बोली साहित्य में इन सब का भी ऐतिहासिक महत्व है।

दकनी काव्य का अंतिम कवि 'वली' है जो १७१२ ई० के लगभग दिल्ली आया था। इस समय तक दिल्ली के शाही दरबार में खड़ी बोली उपेक्षित थी। फ़ारसी ही राजभाषा थी। राजदरबार से संबोधित कवि इसी भाषा में रचना करते थे। परन्तु 'वली' की लोकप्रियता ने इन कवियों का ध्यान उस भाषा की ओर फेरा जो उनके चारों ओर लोकभाषा के रूप में प्रचलित थी और जो स्वयं उनकी मातृ-भाषा थी। परन्तु जब ये फ़ारसी के पंडित कवि इस जन-भाषा (हिन्दवी, हिन्दी, खड़ी

बोली) में रचना करने लगे, तो अपनी अक्षमता के कारण उन्होंने उसे फ़ारसी कविता के साँचे में ही ढ़ाल दिया। फल यह हुआ कि एक विशेष प्रकार की वर्ग-भाषा और वर्ग-काव्य की सृष्टि हुई। यह भाषा थी उर्दू भाषा और यह काव्य था उर्दू-काव्य। सन्तों के बाद हिन्दी काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग कम होता गया, परन्तु खड़ी बोली के क्षेत्र में लोक-रञ्जक खेल-तमाशों और जनगीतों में उसका प्रयोग बराबर होता रहा।

इसके बाद और भी कितने ही कवियों के खड़ी बोली के उदाहरण मिलते हैं। 'मीर' की भी बहुत-सी कविता खड़ी बोली में है। 'वली' कहते हैं—

दिल 'वली' का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मन शाह सों

शाह मुबारक का शैर है—

मत कदर सेती हाथ में ले दिल हमारे को
जलता है क्यों पकड़ता है ज़ालिम अँगारे को

खड़ी बोली पर एक ओर साहित्य- साम्राज्य की अधिष्ठात्री ब्रज-भाषा का प्रभाव पड़ता गया और दूसरी ओर फ़ारसी का। इसीलिए वली आदि के शैरों पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। खुसरो की कविता से मिलान करने पर पता चल जाता है कि खड़ी बोली किस प्रकार अपना रूप बदल रही है।

कबीर ने बहुत से स्फुट भजन, दोहे आदि खड़ी बोली में कहे हैं। इनमें बहुत से तो छप गये हैं, बाक़ी अब भी मौखिक रूप में रह गये हैं जैसे—

अरे साँई ने मँगाया
ईंधन के हित लकड़ी लइयो
बन उपवन के पास न जइयो
सूखी गीली मती सतइयो

लइयो गड़ढा भर कै रे साँई ने मँगाया
भोजन के हित आसन लइयो—इत्यादि

नानक की कविता में भी खड़ी बोली को स्थान मिला है—

मांसे मासे जीव तुम्हारा, तू है खरा पियारा
नानक शायर यूँ कहत है सच्चे परवरदिगारा

'ज़फ़र' देहलवी की एक पहेली सुनिये—

सुन री सखी तू मेरी पहेली
बाबुल पर थी मैं ही अकेली
भाई बापने लाड़ से पाला
और घर का समझा उजियाला

प्राचीन कवियों के उदाहरणों में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनकी कविता अधिकतर ब्रजभाषा के प्रभाव से मिश्रित होती थी, परन्तु विशुद्ध खड़ी बोली के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। १६ वीं शताब्दी के दादूदयाल के दो दोहे इस प्रकार हैं—

(१) पूरन ब्रह्म विचारिये, सकल आतमा एक
काया के गुन देखिये, नाना वरन अनेक
(२) बुद्धि विवेक विचार बिन मानुष पशू समान
समुझाये समुझइ नहीं दादू परम अज्ञान

१७ वीं शताब्दी में आनंदघन ने 'विरह-लीला' नामक ग्रंथ लिखा। यह लगभग खड़ी बोली में ही है—

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आओ
दरस-प्यासी मरें तिनको जिआओ
कहाँ हो जू कहाँ हो जू कहाँ हो
लगें ये प्राणतु म सों हैं जहाँ हो

१८ वीं शताब्दी के सूदन के सुदामा-चरित्र में कहीं-कहीं खड़ी

बोली की कविता मिलती है—

(१) रूप सिंह तेरा चचा और सआदत खान
है मलूक पर पुस्त से दूना किया सुजान

(२) महल सराइ सैरवाने बूआ बू-बू करौ
मुझे अपसोच बड़ा बड़ी बीबी जानी का
आलम में मालूम चकत्ता घराना यारौं
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का
खनेखाने बीच में अमाने लोग जाने लगे
आफ़त ही जानो हुआ आज दहकानी का
रब की रजा है हमें सहना पड़ा है वख्त
हिन्दू कागज़ है आया और तुरकानी का

लल्लू जी लाल 'प्रेमसागर' में लिखते हैं—

जो बैरी खैंचे तरवार, करै साफ़ ताकी मनुहार
समझ मूढ़ साईं पछताय, जैसे पानी आग बुझाय

१६ वीं शताब्दी में खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्टतापूर्वक सामने नहीं आ रहा है। इसी समय के गुजराती कवि दयाराम की भी बहुत सी कविता खड़ी बोली में मिलती है—

गफलत टोटा बड़ा दिवाना क्यों गफलत में पड़ा
कर्म कूट में जनम गँवाया
चाम - दाम से चित न घाम
सच्चा बैली कृष्ण न गाया
अथक झपाटा आन लगेगा, काल सीस पर खड़ा दिखाना क्या

मुसलमानों का राजाश्रय मिलने के कारण उर्दू को जो प्रौढ़ रूप प्राप्त हो गया वह हिन्दी को शीघ्र प्राप्त नहीं हो सका। १८ वीं शताब्दी में जन-साहित्य ने खड़ी बोली का प्रचुर प्रयोग किया। यह प्रयोग अधिकतः खड़ी बोली प्रदेश (आगरे इत्यादि) में ही हुए। भगत, खंड, नौटंकी, भड़ैती, रास आदि जन-मनोरंजनों

में खड़ी बोली का विशद प्रयोग हुआ और उसका रूप मँजा। भगत की रचनाओं के कारण खड़ी बोली की कविता दूर-दूर के शहरों में लोकप्रिय हो सकी। "सर्वसाधारण को भगतें कितनी पसंद हैं और उनके चित्त पर इनका कितना प्रभाव पड़ा है, इसका अनुमान वही कर सकता है जिसने या तो भगत देखी हों या पुस्तकें पढ़ी हों।" लल्लूजी लाल के वंशज मन्नूलाल जी द्वारा रचे गये सीता-राम चरित्र नामक खड़ी बोली के नाटक के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

(१) जनक की सभा में रामचन्द्र-लक्ष्मण का आना—

उसी वक्त दरम्यान सभा के
राजकुँवर दोनों आये
जो तारों के बीच चन्द दो
जोति, छटा, छवि से छाये

(२) बाणासुर का वचन रावण के प्रति—

होय तुमारी खीस सुनो
दससीस बीस भुजा चारी
शिव पिनाक नहिं उठै कटैगी
आखिर नाक तुम्हारी
चुपके हो उठ चलो सभा से
मानो बात हमारी
लाज शरम रह जाय इसी में
मती बजाओ तारी

(३) जयमाल डालने का वर्णन—

विजय माल लेकर चली, सिया सखिन के संग
रंगभूमि में उस समय बरस रहा रस-रंग

बरस रहा रस-रंग, सिया ने
कर-सरोज लेकर वरमाल
राघो जी के उर पहिराई
प्रेमफंद का पड़ गया जाल
सखियाँ कहैं राम पद परसौ
उर पै सुधि कर गोतम बाल
प्रीति अलौकिक देख सिया की
मन में विहँसे राम दयाल

(४) परशुराम का वर्णन (सखियाँ राम से कहती हैं)

तुम तुलसी इसको कहो, हबसी हमें लखाय
राक्षस सा आता चला, देखो श्री रघुराय

राक्षस-सा आता है सामने
देखो श्री रघुकुल मणि राय
तुम तपसी कैसे बतलाओ
हमको हबसी पड़े लखाय
धरा कंध पर फरसा इसके
ब्रह्म राक्षस जाना जाय
व्याकुल विकल कहैं सब सखियाँ
यह जम आज सबों को खाय

आगरे में ख्याल-बाज़ी भी होती थी। वास्तव में सारा पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में (कानपुर-लखनऊ तक) ख्यालबाज़ी और लावनी की धूम थी। इसका ढंग बहुत कुछ मुशायरा जैसा था और यह एक प्रकार की आशु कविता की प्रतियोगिता थी। लोग ख्याल बना कर उसी वक्त कहते। कोई-कोई पहले बनाये ख़्याल भी गाते। कभी-कभी दो नामी ख़्यालबाज़ों में मुठभेड़ भी हो जाती, एक दूसरे पर ख़्याल में कटाक्ष करता, दूसरा

ख्याल में ही उत्तर देता। कबीर (होली) में भी इसी तरह की प्रतियोगिता चलती थी। सच तो यह है कि इन्हीं कुरुचि-सुरुचि पूर्ण निम्न वर्गों की कविताओं ने साहित्यिक प्रयत्नों के लिए क्षेत्र तैयार किया। इसी प्रकार की अन्य रचनाओं का नाम "खंड" था। "खण्ड" की कविता अधिकतः विशुद्ध खड़ी बोली होती है। ये अधिकांश मौखिक चलते थे, इसलिये लिपि-बद्ध नहीं मिलते। इनकी कविता इतनी जोशीली होती थी कि कभी-कभी गानेवालों में लड़ाई और मारपीट तक हो जाती। उच्च भावों से भरी अत्यंत मनोरंजक वीर रस-प्रधान कथाएँ इनमें पाई जाती हैं जैसे अमरसिंह राठौर, दयाराम गूजर आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ११७२-७३ के आसपास से १६०० तक खड़ी बोली भाषा और काव्य की परम्परा चली आ रही थी, यद्यपि उसमें महत्वपूर्ण साहित्य की रचना नहीं हो सकी थी। अन्य स्थान पर हमने भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों की कविताओं के उद्धरण दिये हैं। उस समय लावनी, कजली इत्यादि लोक-गीतों के रूपों में खड़ी बोली की कविता प्रचुर मात्रा में बन रही थी। इन कवियों ने लोकगीतों की इस परम्परा से बड़ी सहायता ली और उनके अनुकरण में अच्छी कविता की। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली कविता का साहित्यिक रूप गढ़ा नहीं जा सका। इसी से ब्रजभाषा काव्य की प्रौढ़ता के आगे इस नई भाषा की कविता श्री-हीन थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों में कविता की भाषा को लेकर समाचार पत्रों में बड़े वाद-विवाद चले। खड़ी बोली हिंदी का पहला साहित्यिक काव्य-प्रयोग भारतेन्दु ने १८८१ ई० में 'भारतमित्र' में प्रकाशित कुछ पंक्तियों में किया। साथ के पत्र में उन्होंने लिखा—"प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है, देखिएगा कि इसमें क्या असर है और किस उपाय का आलंबन

करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। तीन भिन्न छंदों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छंद में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा कविता लिखी है। मेरा चित्त इसमें संतुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है।...लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।" (भारतमित्र, १ सितम्बर, सन् १८८१) १८८७-८८ में 'हिन्दोस्तान' (कालाकाँकर) में कविता की भाषा के विषय में बहुत कुछ लिखा गया जो आज भी ऐतिहासिक महत्व रखता है। राधाचरण गोस्वामी ने लिखा—"आजकल हमारे कई भाइयों ने इस बात का आन्दोलनआरम्भ किया है कि जैसी हिन्दी में गद्य लिखा जाता है वैसी ही हिन्दी में पद्य भी लिखा जाया करे, अब इस प्रकार की भाषा में छंद-रचना करने में कई आपत्तियां है। प्रथमता भाषा के कवित्त, सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता, तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द छोड़ कर उर्दू के बैत-शैर ग़ज़ल आदि का अनुकरण करना पड़ता है, पर फ़ारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्य नहीं आता।. तब ब्रजभाषा के इतने बड़े अमूल्य रत्न भांडार को छोड़ कर नए कंकर-पत्थर चुनना हिंदी के लिए कुछ सौभाग्य की बात नहीं, वरंच इस ब्रजभाषा के भंडार को निकाल देने से फिर हिन्दी में क्या गौरव की सामग्री रह जायगी ? (हिन्दोस्तान, ११ नवंबर, सन् १८८७) ".. हम अनुमान करते है कि यदि खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में ख़ाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जाय। इधर गद्य में सरकारी पुस्तकों में फ़ारसी शब्द घुस पड़ें, उधर पद्य में भी फ़ारसी भरी गई तो

सहज ही झगड़ा निपटा ।" (हिन्दोस्तान, १५ जनवरी, १८८८ ई०)

प्रतापनारायण मिश्र ब्रजभाषा के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने लिखा—"...कवियों की निरंकुशता भी आकर खड़ी बोली में नहीं रह सकती। जो भाषा-कवियों की मानी हुई संस्कृत के समान ब्रजभाषा के नियमों में हो ही नहीं सकती वह कवियों के आदर की अधिकारी कैसे हो सकती है।...यह तो और भी हमारे लिए अहंकार का विषय है कि दूसरे देशों वाले केवल एक ही भाषा से गद्य-पद्य दोनों का काम चलाते हैं। हमारे यहाँ एक गद्य की भाषा है, एक पद्य की...। ('हिन्दोस्तान', ६ फरवरी, सन् १८८८)

उस समय पं० श्रीधर पाठक और हिन्दोस्तान के संपादक ने खड़ी बोली का पक्ष बड़ी शक्ति से ग्रहण किया। श्रीधर पाठक का कहना था—"घनाक्षरी सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छंद ऐसे हैं कि जिनमें खड़ी बोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आ सकती है।...खड़ी बोली में कई कारणों से कविता की विशेष आवश्यकता है। . यह खड़ी बोली इतनी प्रचलित है कि भारतवर्ष के सब प्रांतों में थोड़ी समझी जाती है। योरोपियन भी यहाँ की Lingua Franca इसे ही समझते हैं।।" ('हिन्दोस्तान,' १५ जनवरी, सन् १८८८)... "ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अनेकों अन्य बातों में उन्नति की समाई है पर अवसर नहीं। ब्रजभाषा की कविता को अब यदि अवसान नहीं तो विश्राम लेने का समय अवश्य आ गया है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं, उसका बहुत-सा काम खड़ी हिंदी में आजकल बहुत अच्छी तरह निकल सकता है। ...खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पावेगी, जब इस

हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की ताव क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख सके।...हिन्दी के गद्य वा पद्य की उन्नति हम लोगों पर निर्भर है सरकार पर नहीं।" (हिन्दोस्तान, ३ फरवरी, सन् १८८८)..."हम यह नहीं कहते कि नवीन हिन्दी की कविता व्रजभाषा की कविता से मधुर होती है, हमारा तो केवल इतना मंतव्य है कि नवीन हिन्दी में जैसे गद्य है वैसे पद्य भी होना चाहिये। कवियों को निरंकुशता क्या शब्दों को सत्यानाश में मिलाने में होती है। निरंकुशता रीति से सम्बन्ध रखती है।... फिर हमें क्या पड़ी है जो शब्दों को बिगाड़ें।...यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी हिन्दी कविता के उपयुक्त नहीं है...गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।" ('हिन्दोस्तान,' ८ मार्च सन् १८८८) 'हिन्दोस्तान' के संपादक ने लिखा—"यह दूसरी बात है कि चिरकाल के परिचय और अभ्यास तथा कुछ स्वरादिकों की कोमलता के कारण हिन्दी के उस रूप की कविता जिसको हम व्रजभाषा कहते हैं हमको अधिक सुन्दर और प्यारी लगती है किन्तु कालांतर में प्रचलित भाषा की कविता भी हमको वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी।

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे खड़ी बोली कविता के पक्ष और विपक्ष पर प्रकाश पड़ता है। इस वाद-विवाद के बाद भी खड़ी बोली की कोई महत्वपूर्ण कविता उन्नीसवीं शताब्दी के शेष वर्षों में नहीं हुई। स्वयं भारतेन्दु की कविताओं में साहित्य की मात्रा विशेष नहीं थी—

भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग
सिद्ध होयगा काम औ' छूटेगा सब सोग

या

कहां हो ए हमारे राम प्यारे
किधर तुम छोड़ कर मुझको सिधारे
बुढ़ापे में य दुख भी देखना था
इसी के देखने को मैं बचा था
(दशरथ-विलाप)

या

फागुन के दिन बीत चले अब ऋतु बसन्त आई
बदला समा चली झोंके मे झुकी हुई पुर वाई
गर्मी के आगम दिखलाए रात लगी घटने
कुहू-कुहू कोइल पेड़ों पर बैठ लगा रटने
(बसन्त)

या

बादल की पालें, धुएं की जालें छोड़े दौड़ा जाता है
पावस नभ-सागर, सब गुन-आगर जोर जहाज़ दिखाता है
(बसात)

वास्तव में खड़ी बोली का बहुत प्रयोग भारतेन्दु नहीं कर सके। उनकी मृत्यु के बाद खड़ी बोली आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। खड़ी बोली की जब से महत्वपूर्ण पहली रचना श्रीधर पाठक की 'एकांत-वासी योगी' (१८८६) है। अधिकांश कविताएँ स्फुट रूप में ही लिखी गईं और १८८७—८६ में वे 'खड़ी बोली का पद्य' नाम से दो संग्रहों में प्रकाशित हुईं। साहित्य की दृष्टि से इन संग्रहों की कविताएँ आज विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने खड़ी बोली काव्य को गहरी भित्ति दी और उन लोगों को मुंहतोड़ उत्तर दिया। जो कहते थे कि खड़ी बोली में सुन्दर, सरस रचना क्या कुछ कहना भी असंभव है।

धीरे-धीरे अन्य लोग भी क्षेत्र में आये। श्रीधर पाठक तो खड़ी बोली काव्य के मुख्य स्वयं ही थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी, महेशनारायण और लक्ष्मीप्रसाद प्रभृति कवियों ने इसी भाषा की काव्य-रचना में योग दिया। इनमें सबसे महत्व पूर्ण द्विवेदी ही थे। यों तो उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ वर्षों में खड़ी बोली में थोड़ी बहुत कविता लिखी थी, परंतु उनकी ऐतिहासिक महत्व की रचना 'कुमारसंभवसार' (१९०२) है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर इस रचना का व्यापक प्रभाव है। उन दिनों द्विवेदी जी वर्ड्सवर्थ की तरह गद्य और पद्य के एक ही प्रकार के विन्यास के आग्रही थे। गद्य-पद्य की भाषा और शैली में कोई भी अंतर उन्हें वांछनीय नहीं था। 'उषा-स्वप्न' में उन्होंने लिखा—

उसे देख मन बहुत संभाला
तदपि हो गई मोहित बाला
यदपि न मुंह से बचन निकाला
दिल अपना उसने दे डाला

परंतु 'कुमारसंभवसार' कालिदास जैसे कवि का अनुवाद था, अतः अपने इस सिद्धांत को वे अपना नहीं सके। अज्ञात रूप से ही उन्होंने हिन्दी के एक उत्कृष्ट साहित्यिक पद्य का उदाहरण कवियों के सामने रखा। परंतु न स्वयं द्विवेदी जी इस श्रेणी की रचना फिर कर सके, न व्यापक रूप से उनके नेतृत्व को अपनाया ही गया। इसी से कुमारसंभव (१९०२) के बाद हमें साहित्यिक हिन्दी पद्य के दर्शन पहले-पहल 'जयद्रथ बध' (१९१२) में होते हैं।—

जो हो, यह निश्चित है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस वर्ष खड़ी बोली में हिन्दी कविता करने या न करने के

संघर्ष के बीस वर्ष हैं। श्रीधर पाठक जैसे कवि के हाथों नई खड़ी कविता का ठीक संस्कार हुआ और 'कुमारसंभव' लिख कर द्विवेदी जी ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। परन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं था। उन्हें 'सरस्वती' के द्वारा खड़ी बोली की हिन्दी कविता के प्रारंभिक संस्कार गढ़ने का सुअवसर मिला। यह काम कठिन था परंतु उन्होंने उसे बड़े साहस से निभाया। उन्होंने कविताओं में काट-छांट को, कवियों को आदेश दिये उनके सामने स्वयं अपनी कविता द्वारा उदाहरण रखे। फलतः उनके आदर्शों पर चलने वाला एक बड़ा वर्ग तैयार हो गया। इस वर्ग में मैथिलीशरण गुप्त सब से आगे थे। लगभग बीस [illegible] तक कविता-संबंधी द्विवेदी जी के बिचारों ने हिन्दी जगत् पर एकच्छत्र राज किया। इसी से यह पहले बीस वर्ष 'द्विवेदी युग' कहलाये।

द्विवेदी युग की काव्य धारा में हिन्दी कविता की वह प्रवृत्तियाँ पुष्ट हुई जिनका प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था और जो हमारे पिछले काव्य-साहित्य की भाव-धारा से पूर्ण रूप से संबन्धित हैं। भारतेन्दु के समय में काव्य की प्रगति विशेषतया तीन दिशाओं में थी—(क) वैष्णव काव्य-धारा (ख) शृङ्गार-प्रधान काव्य और (ग) जातीय और राष्ट्रीय काव्य। पहली दो धाराओं का मूल भारतीय साहित्य की परंपरा में था और अंतिम समय और परिस्थितियों की उपज थी। डॉ० इन्द्रनाथ मदन ने वैष्णव काव्य को रोमांटिक काव्य कहा है क्योंकि उनके मत में वैष्णव धर्म सौन्दर्यानुभूति-प्रधान होने के कारण नैतिक प्रतिबन्धों के प्रति विद्रोह भी प्रगट करता है। परन्तु ठीक अर्थों में हम उसे रोमांटिक नहीं कह सकते। यह अवश्य है कि बाद में उसमें शृङ्गार की भावना स्थापित होने के कारण उसका शुद्ध नैतिक रूप दृष्टि से ओझल

हो गया था। परन्तु जिस रूप में हम वर्तमान काव्य-धारा से परिचित हैं, वह रूप उसे कभी प्राप्त नहीं हुआ। वैष्णव काव्य को रोमांटिक काव्य कहना उपयुक्त नहीं होगा। हाँ सूफ़ियों के प्रेम-साहित्य को उनकी अंतर्धारा की विशेषता की दृष्टि से हिन्दी की पहली रोमांटिक या रहस्यवादी धारा कह सकते हैं।

द्विवेदी युग में भारतेन्दु युग की काव्य-धाराएँ पुष्ट हुईं। किसी दिशा में मौलिकता ने नया जन्म नहीं लिया। परन्तु एक बात जो विशेष हुई वह यह थी कि शृङ्गार काव्य की परंपरा के प्रति बढ़ते हुए बुद्धिवाद और नवीन समाज के कड़े आदर्शों ने विरोध किया। और यह उचित भी था। जाति की क्षीण शक्ति को संयम में बाँध कर उसे प्रगति की ओर बढ़ाने की आवश्यकता थी। परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। कवि को अपना मुख मध्यवर्ग की ओर करना पड़ रहा था जिसने कर्म को प्रधानता दे दी थी और जिसके नैतिकता के आदर्श स्वार्थपूर्ण एवं कड़े थे।

इस युग का सब से बड़ा महत्व यह है कि रीतिकाल तक चली आती हुई देश की काव्य-भाषा (व्रजभाषा) के स्थान पर एक दूसरी ही उतनी प्राचीन समानांतर बहने वाली काव्य धारा को परिष्कृत करके साहित्य के उच्चासन पर बिठाने का फल प्रयत्न हुआ। रीति-कालीन कवियों के सीमाबद्ध कविता के विषयों में परिवर्तन हुआ और कवियों ने देश-काल की स्थिति के साथ कंधा से कंधा मिला कर चलना प्रारम्भ किया। जो नये विषय कविता को मिले, वह अधिकांश जातीय और राष्ट्रीय उत्थान एवं समाज-सुधार से सबंधित हैं, परन्तु इस युग में प्रकृति की ओर भी लेखकों ने दृष्टिपात किया। ये लेखक संक्राति-काल के लेखक थे। अतः जिन दिशाओं में उनके प्रयास शिशु-प्रयास रहे वैसा

इधर भी रहा। उन्होंने प्रकृति को या तो अलंकारों की योजना के लिये भूमि में उतारा या उसके नाना रूपों या व्यापारों की गिनती करके उसकी तालिका-मात्र तैयार की। परन्तु ये प्रकृति के प्रति उनके नये दृष्टिकोण के विकसित होने के अभिनंदनीय चिन्ह थे।

द्विवेदी-युग में पहले पहले निश्चित रूप में खड़ी बोली काव्य-भाषा के लिए प्रयुक्त हुई यद्यपि उसका प्रयोग थोड़ी मात्रा में भारतेन्दु युग में भी हो चुका था। भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में खड़ी बोली पद्य का प्रयोग किया है परंतु काव्य में एकाध स्थानों को छोड़ कर उनका यह प्रयोग प्रहसन का रूप लिए है। पं० श्रीधर पाठक ऐसे पहले कवि थे जिन्होंने खड़ी बोली का गंभीरतापूर्वक काव्य-भाषा के लिए प्रयोग किया। उन्होंने अंग्रेज़ी से अनुवाद किये और प्रकृति एवं देशभक्ति-संबंधी रचनाएँ इसी बोली में लिखीं परंतु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पं० श्रीधर पाठक मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे। हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने काव्य-क्षेत्र में नये विषयों का प्रयोग कराया था—स्वदेशप्रेम, प्रकृति-निरीक्षण, समाज के किसी वर्ग को लेकर व्यंग, सामाजिक कुरीतियाँ—परंतु काव्य-भाषा और छन्दों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अतः जो कुछ परिवर्तन हुआ भी, वह आमूल नहीं कहा जा सकता। हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने काव्य में वही रीतिकालीन अभिव्यंजना का ढंग था, वही मूर्तिमत्ता ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि श्रीधर पाठक ने ही अंग्रेजी काव्य का सहारा लेकर पहली बार क्रांति का मार्ग दिखाया।

पाठक का प्रकृति-वर्णन रूढ़िगत नहीं है। उन्होंने प्रकृति को अपनी आँखों से देखा है।। पिछले षट्ऋतुवर्णन आदि को देखते हुए यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। उनके प्रकृति

वर्णन में आत्मानुभूति, तन्मयता या रहस्यवादिता का स्थान भले ही न हो, उसका रूप ऐसा बदला हुआ था कि उस समय पाठकों की दृष्टि उसकी ओर गई और उनका विरोध हुआ। यही एक बात इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता और नवीनता बताती है। एक दूसरी बात यह थी कि पाठक ने नये छंदों का प्रवर्तन किया; उन्होंने अपने छंदों को जनता में प्रचलित लोकगीतों से चुना। इसका कारण (जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं) यह था कि उस समय तक लोकगीतों (लावनी, ख्याल, सधुक्कड़ी गीत आदि) में खड़ी बोली का प्रयोग सारे हिंदी प्रदेश में हो रहा था और जो साहित्यिक पहला बार पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रयोग करता उसको इस लोकप्रिय जन-साहित्य का सहारा लेना पड़ता।

परन्तु इस प्रकार की स्वच्छंद उद्भावना जो नये छंदों के प्रयोग और प्रकृति के प्रति नये दृष्टिकोण को लेकर चली थी, पं० श्रीधर पाठक तक ही समाप्त हो जाती है। काव्य-क्षेत्र में उनका अनुकरण नहीं हुआ।

यद्यपि खड़ी बोली कविता के उन्नायक निश्चित रूप से पं० श्रीधर पाठक हैं, परन्तु शीघ्र ही एक दूसरी नई शक्ति आई जिसने इन्हें पीछे ढकेल दिया। हम देखते है कि पं० श्रीधर पाठक का नवीन दृष्टिकोण खड़ी बोली के जनगीतों और जन-साधारण की सामान्य भावनाओं एवं अंग्रेजी-साहित्य पर आश्रित था। इस नवीन शक्ति—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—का आधार दूसरा था। वे संस्कृत और मराठी काव्य को आधार मान कर चले। उन्होंने संस्कृत वृत्तों का प्रचलन किया और खड़ी बोली काव्य में संस्कृत तत्सम शब्दों के बाहुल्य और संस्कृत पदावली के समावेश को स्थान दिया। ये बातें संस्कृत काव्य के ज्ञान पर आश्रित थीं। उनके काव्य में नीरसता, शुष्कता और कर्ण कटु शब्दों का प्रयोग मराठी से आया। भाषा उत्तरोत्तर सीधी होती गई और बाद में

वह रससिक्त भी हुई परन्तु शैली की इतिवृत्तात्मकता नहीं गई। हाँ, लाभ यह हुआ कि रीतिकाल की रूढ़ियों से हिंदी एकदम छूट गई। वास्तव में द्विवेदी काव्य रीति-काव्य के शृङ्गाररस और रीति-प्रधानता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित हुआ था। यदि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण न होते तो खड़ी बोली कविता का विकास पं० श्रीधर पाठक की शैली पर स्वतंत्रता से होता और संस्कृत काव्य की ओर लोगों की दृष्टि न जाती।

द्विवेदी युग में जो काव्य-रचना हुई उसकी अपनी एक बँधी प्रणाली थी जिसके प्रवर्तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इन्होंने भाषा की शुद्धता और सरलता का आग्रह किया। ब्रजभाषा और अवधी का जो मिश्रण खड़ी बोली कविता में रहता था, उसे दूर कर दिया। परन्तु द्विवेदी जी का ध्यान पद्य की भाषा के सुधार तक ही सीमित नहीं था। काव्य की शैली के संबंध में भी उनके कुछ विचार थे। इनमें दो मुख्य थे—संस्कृत वृत्तों का प्रयोग हो और भाषा गद्य से मिलती हो। इन धारणाओं को लेकर उन्होंने पहले ब्रजभाषा में ही रचना की। परंतु शीघ्र ही वे उसे छोड़ बैठे। यही नहीं, उन्होंने खड़ी बोली को ही एक मात्र काव्य-भाषा बनाने के लिये आन्दोलन चलाया यद्यपि उस समय सरल गद्य की भाषा में कविता लिखना असंभव था और स्वयं द्विवेदी जी इसमें असफल रहे। उनकी कविता में संस्कृत पदावली का प्रवेश हो गया और उनके द्वारा प्रभावित अन्य कवियों में भी उसका प्रचार बढ़ा। परंतु द्विवेदी जी का यह आग्रह भी बराबर बढ़ता गया कि कविता की भाषा गद्य की व्यवहारिक भाषा होनी चाहिये। उनकी कविता में रस-संचार की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है और सारा काव्य अभिधा-मात्र है, न लक्षणा का प्रयोग है न चित्रमयता का, न अलंकारों आदि का।

संयोग-वश द्विवेदीजी को सरस्वती का संपादन मिल गया और इस पत्रिका के द्वारा उन्होंने केवल खड़ी बोली के प्रश्न का समर्थन ही नहीं किया, वरन् उस भाषा में अनेक-अनेक पद्य-कारों (कवियों) को जन्म दिया। वास्तव में द्विवेदीजी की प्रेरणा से जो व्यक्ति काव्य-क्षेत्र में आये उनमें से अधिक पद्यकार ही थे, कवि नहीं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदीजी ने स्वयं काव्य-रचना कर अपने अनुयायियों के सामने एक आदेश रखा। धीरे धीरे अनेक कवि क्षेत्र में आये। इनमें से प्रसिद्ध हैं मैथिली-शरण गुप्त, माधव शुक्ल, रामचरित उपाध्याय, पं० राम नरेश त्रिपाठी, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और पं० रूपनरायण पांडेय। इनमें से कुछ लेखक पहले भी खड़ी बोली में काव्य-रचना करते आये थे परंतु वह क्षेत्र में अकेले होने के कारण संकोची बने हुए थे। अब एक नये स्कूल का बल पाकर मुखर हो गये।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ नये कवि ऐसे भी थे जिन्होंने द्विवेदी जी के प्रभाव से बाहर रह कर खड़ी बोली में कविता की। इनमें लाला भगवान दीन 'दीन', राय देवीप्रसाद पूर्ण पं० रामचंद्र शुक्ल और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' महत्वपूर्ण हैं।

'हरिऔध' ने अपना ध्यान उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली की ओर किया। १६०० से पहले उन्होंने इसी प्रकार की कविताएँ लिखीं। उस समय तक उर्दू खड़ी बोली का बहुत बड़ा काव्य-साहित्य तैयार हो गया था; अतः हिन्दी खड़ी काव्य के प्रारम्भिक दिनों में कवियों का ध्यान उसकी ओर जाना आवश्यक था। जब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आन्दोलन के कारण संस्कृत छंदों और संस्कृत पदावली को हिन्दी कविता में स्थान मिल गया तो हरिऔध ने उस शैली में द्विवेदी

युग की सर्वोत्तम रचना (प्रिय प्रवास १६१४) लिखी। इसमें संस्कृत वृत्तों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से हुआ है। इसका प्रकृति-वर्णन परंपरा-पालन के लिये है। उसमें श्रीधर पाठक के प्रकृति-वर्णन के समान नवीनता और मार्मिकता नहीं। एक बात अवश्य है। हरिऔध ने संस्कृत की कोमलकांत पदावली का सफलता से प्रयोग कर अन्य कवियों का ध्यान उसकी ओर खींचा। द्विवेदी जी के आग्रह और अनुकरण में जो कविता हो रही थी उसमें कर्कश और कर्णकटु पदावली की प्रधानता थी। परंतु शीघ्र ही हरिऔध फिर बोल-चाल और मुहावरों की ओर झुके उनकी इस प्रकार की शैली के उदाहरण चोखे चौपदे (१६२४) और 'पद्य प्रसून' (१६२५) हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि कवि हैं यद्यपि उन्होंने परवर्ती काव्य की शैलियाँ भी अपनाई हैं। उनकी कविता में द्विवेदीयुग के अन्य कवियों की भाँति इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है परंतु जहाँ अन्य कवि छोटी-छोटी मुक्तक कविताओं तक ही रह गये, वहाँ उन्होंने मुक्तकों के अतिरिक्त खंड काव्यों और महाकाव्यों की भी रचना की। रंग में भंग, गुरुकुल जयद्रथ बध, विकट भट, पंचवटी, वैतालिक, साकेत, द्वापर, यशोधरा, तिलोत्तमा, नहुष—लगभग एक दरजन से अधिक कथा-प्रधान काव्यों से उन्होंने हिंदी काव्य भण्डार को अलंकृत किया है। इन काव्यों का विषय हिन्दू जातीयता, हिन्दू जातीय वीर एवं पौराणिक पुरुष या अवतार हैं। इन सब कथाओं में गुप्तजी मनुष्य के परिचित दुःख-सुख का वातावरण लेकर उपस्थित होते हैं। लगभग सभी में करुणा-मूलक मानव प्रेम, विश्व प्रेम एवं बलिदान का संदेश है। इन काव्यों की परंपरा पिछले दो-चार वर्ष तक चली है और इन पर राष्ट्रीय आन्दोलनों एवं नवीन साहित्यिक आन्दोलनों का प्रभाव भी लक्षित है, परंतु

मूल रूप में वे द्विवेदी-युग के काव्य के ही अधिक निकट हैं। उनमें हमें उत्तरोत्तर विकसित कला का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त उनकी अन्य प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ भारत-भारती और झंकार हैं। पहली पुस्तक हिन्दी की पहली राष्ट्रीय रचना है जिसमें देश एवं जाति की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के प्रति पहली बार असंतोष प्रकट किया गया है। दूसरी पुस्तक भाव प्रधान गीतों का संग्रह है जिनपर छायावाद काव्य के विषय एवं शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

द्विवेदी-युग के काव्य के अध्ययन के लिए स्वयं पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के काव्य का विशद अध्ययन आवश्यक हो जाता है यद्यपि उनके काव्य का अधिकांश भाग स्थायी साहित्य नहीं बन सकेगा। फिर भी उसका इतना ऐतिहासिक महत्व है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का बीज-रूप द्विवेदीजी की रचनाओं में मिल जाता है। यदि द्विवेदीजी केवल गद्य ही लिखते रहते अथवा अपनी कविता-विषयक धारणाओं को गद्य तक ही सीमित रखते, तो कदाचित् वे नवीन काव्य में क्रांति उपस्थित न कर पाते। उनका काव्य उनकी काव्य-संबंधी धारणाओं का प्रतिरूप जान पड़ता है, परन्तु उसे उसकी वास्तविक वीथिका में रखकर देखने के लिए यह आवश्यक है कि 'सरस्वती' में प्रकाशित आचार्य के सिद्धान्तों और अन्य कवियों की कविताओं के साथ-साथ उनका अध्ययन किया जाये। इस अध्ययन के फल-स्वरूप उन प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप से उद्‌घाटन हो सकेगा। जिन्हें हम द्विवेदी-युग के काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ कहते हैं। 'सरस्वती' में ही हमें मैथिलीशरण गुप्त के विकास की रूपरेखाएँ मिलेंगी। इनके अतिरिक्त पं० रामचरित उपाध्याय, पं० गिरधर शर्मा नवरत्न, पं० लोचन प्रसाद पांडेय का साहित्य भी 'सरस्वती' के द्वारा ही प्रतिमास

प्रकाश में आता रहा है। ये सब ऐसे कवि हैं जिन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी की काव्य-मान्यताओं को स्वीकार कर लिया था और जो स्पष्टतः उनके प्रभाव में बढ़ रहे थे। सरस्वती एवं अन्य समस्त मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाओं के पृष्ठों में ऐसे कितने ही कवि मिलेंगे जो अब विस्मृति के गर्भ में जा पड़े हैं। द्विवेदीजी ने ऐसे लोगों के लिए भी कविता का मार्ग खोल दिया था जिनमें कवि-हृदय नाम मात्र को न था, परन्तु जो इतिवृत्तात्मक गद्य-निबन्ध को ही तुकबंदी के रूप में उपस्थित कर सकते थे। काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में कोई अन्तर नहीं रहा था। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति कवि बन बैठता था। काव्यहीन ऐसी कविताओं से उस समय का सामयिक साहित्य भरा-पुरा है। सारे काव्य-साहित्य में ऐसी नीरस, काव्य-गुणहीन काव्य की विडम्बना स्वरूप कवितायें कम मिलेंगी परंतु इन्हीं रचनाओं में हमें श्रेष्ठ कवियों के विकास का रूप भी निर्धारित करना होगा और भावी युग के काव्यान्दोलनों के मूल कारण भी मिलेंगे।

ऐसे भी अनेक कवि थे जिनपर द्विवेदी का स्पष्ट प्रभाव नहीं था परन्तु जो भारतेन्दु युग से चली आती काव्य-परंपरा का पालन कर रहे थे। यह कवि या तो केवल ब्रजभाषा में ही रचनाएँ करते थे (वियोगी हरि, सत्यनारायण कविरत्न) या ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में लिखते थे। पिछली श्रेणी के महत्वपूर्ण कवि हैं राय देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा 'शंकर', गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' ('त्रिशूल'), लाला भगवान दीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० रूपनारायण पांडेय। इन कवियों ने सरस्वती के पृष्ठों से काव्य लिखना नहीं सीखा था, और चाहे वे किसी रूप में द्विवेदी के व्यक्तित्व और काव्य-संबंधी उनकी मान्यताओं से प्रभावित रहे

हों, परन्तु मुख्य रूप से वे एक विशद परंपरा की अंतिम शृङ्खला थे। अतः उनके काव्य में अन्य कवियों की अपेक्षा काव्य-गुण की मात्रा अधिक होना स्वाभाविक ही है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि खड़ी बोली काव्य की न तो भाषा ही मँज पाई थी, न छंद ही प्रयोग से सरस हो सके थे। इस कारण इनकी खड़ी बोली की कविताएँ इनकी ब्रजभाषा की कविताओं से बहुत नीचे रह जाती हैं। उनमें हृदय, कल्पना और कला का समुचित समावेश नहीं हो पाता। वास्तव में ये कवि स्वतः समझ गये थे कि किन-किन भावों के लिए किस भाषा का प्रयोग करना सहज होगा। शृङ्गार, वीर और भक्ति काव्य के लिये वे परंपरा का पालन करते हुए ब्रजभाषा और कवित्त-सवैया छन्द का प्रयोग करते, परन्तु जन्मभूमि-प्रेम, जाति-गौरव, समाज-दशा, आचरण-संबंधी उपदेश तथा इसी प्रकार के अन्य सामयिक नवीन विषयों को अपनाते समय खड़ी बोली भाषा और नवीन छन्दों का प्रयोग करते। सत्यनारायण कविरत्न को छोड़कर ऐसा कोई भी कवि नहीं है, जिसने ब्रजभाषा में विविध विषयों को अपना लक्ष्य बनाया हो। खड़ी बोली में भी कवित्त-सवैयों के लिखने की प्रथा चल पड़ी थी। शंकर, सनेही और गोपाल शरण सिंह के खड़ी बोली के कवित्त और सवैये भाषा-सौष्ठव और रस-परिपाक की दृष्टि से ऊँची श्रेणी के हैं। अन्य कितने ही कवियों ने इनका अनुकरण किया। सनेही तो आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने कवि-समाजों और कवि-सम्मेलनों और कविता-पत्रों के द्वारा कानपुर में एक विशिष्ट काव्य समाज ही स्थापित कर लिया। द्विवेदी युग की एक विशिष्ठत "रसिक वाटिका" जैसी पत्रिकाएँ है और कविताओं, समस्या पूर्तियों और कवित्त-सवैयों के लिए ही प्रकाशित होती थीं। वास्तव में उस समय का अधिकांश साहित्य पत्र-पत्रिकाओं तक ही सीमित था।

जिन कवियों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं वे द्विवेदी काव्य की मरु-भूमि में रसस्रोत बहा रहे हैं। उनमें सत्यनारायण कविरत्न ब्रजभाषा काव्य में और पंडित रामनरेश त्रिपाठी खड़ी बोली काव्य में सर्वोच्च हैं। पं० सत्यनारायण कवि जैसा कवि-हृदय भारतेन्दु के बाद किसी कवि को नहीं मिला था। उन्होंने जिस ब्रजभाषा का प्रयोग किया वह काव्य-परम्परा के भीतर से मिली हुई ब्रजभाषा नहीं थी। वह शुद्ध ब्रज थी; उनके समय के ब्रज की जीती-जागती बोल-चाल की भाषा थी। यद्यपि "भ्रमरदूत" और "प्रेमकली" जैसी कविताओं में उन्होंने प्राचीन ब्रज-कवियों की कला का आधार ग्रहण किया है, परन्तु स्वयं उनकी सहृदयता और चलती भाषा के मेल के कारण उनका काव्य अत्यन्त हृदयग्राही है। इन परम्परा-बद्ध विषयों के अतिरिक्त उन्होंने सामयिक कविताएँ भी बड़ी मात्रा में लिखी हैं। इसी से उनकी कविता में सुन्दर विविधता के दर्शन होते हैं। स्वयं उनका जीवन अत्यंत कटु था, विषादपूर्ण था, परन्तु कुछ कविताओं को छोड़कर उसकी छाप लगभग नहीं है। उन्होंने आत्मानुभव को भी कितने ही छन्दों में उपस्थित किया है। उनका काव्य जीवन से प्रसूत होने के कारण अभिनन्दनीय है। पं० रूपनारायण पांडेय की कविताएँ "पराग" और "बन विहंगम" के रूप में संग्रहीत हैं। इनमें से पिछली कविता में एक कपोत-कपोती की प्रेम-कहानी सहृदयता और सरसता से उपस्थित की गई है। लाला भगवानदीन पुरातन काव्य शैली के ही पोसक थे। खड़ी बोली की उनकी कविता वीरों के चरित्र को लेकर वीर काव्य के रूप में ही प्रस्फुटित हुई है। 'पूर्ण' में हमें भारतेन्दु काल की सारी प्रवृत्तियों के दर्शन हो जाते हैं—वही राजभक्ति-समन्वित देश-भक्ति, वही सामयिक आन्दोलनों की प्रतिध्वनि, वही समाज और धर्म-सम्बन्धी उत्साह।

द्विवेदी काल के दो कवियों—पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० मुकुटधर पांडेय—में हमें परवर्ती रोमांच काव्य, रहस्यवाद या छायावाद के सूत्र मिलते हैं। छायावाद काव्य में जो अदृष्ट सत्ता के प्रति प्रेम-भावना है, जो लौकिक प्रेम को आध्यात्मोन्मुख करने की प्रवृत्ति है, जो प्रकृति के स्वच्छन्द और रमणीय प्रसाद की ओर दृष्टि है, वह पहले इन्हीं लोगों में मिलती है। इनके अतिरिक्त पं० बदरीनाथ भट्ट और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की १९१३-१६ की कुछ कविताएँ गीतात्मकता, भावना, व्यंजना-शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परवर्ती काव्य की ओर ही जाती हैं। सच तो यह है कि पहले दशाब्द के अंत होते-होते कवि, विशेषत: वे जो अंग्रेजी काव्य से परिचित थे, द्विवेदी युग की कविता की नीरसता, अभिधाप्रधान शैली, इति वृत्तात्मकता, कल्पनाहीनता और रस शून्यता से ऊब गये थे। वे कम-से-कम भाव-प्रकाशन की अधिक सरस, सरल और भाविक शैली की ओर बढ़ना चाहते थे। यद्यपि ये कवि प्रधान रूप से द्विवेदी युग के कवि हैं क्योंकि उनके काव्य का अधिकांश उसी की विशेषताओं से विभूषित है, परन्तु उसका थोड़ा भाग अवश्य ही उन्हें द्विवेदीयुग से आगे बढ़ाकर छायावाद काव्य के उन्नायकों में रख देता है।

१९१३ ई० के लगभग हिन्दी खड़ी बोली काव्य में एक नई काव्य-धारा का प्रवर्तन हुआ जिसके प्रवर्तक श्रीजयशङ्कर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पंत थे। द्विवेदी काव्य की धारा इस धारा के समानांतर बहती रही यद्यपि उसपर इस नई छायावाद काव्य की धारा का भी प्रभाव पड़ा। मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं (झंकार १९२९, साकेत १९३२ और यशोधरा १९३३) में यह प्रभाव पूर्णतय: लक्षित है। परंतु वहाँ हमें इस नई काव्यधारा पर विचार नहीं करना है। द्विवेदीजी इस

नई काव्य धारा के समर्थक नहीं थे। कवि-किंकर के उपनाम से उन्होंने इस धारा के काव्य की बड़ी तीव्र समीक्षा की। १६२७ में जब पंत का कविता-संग्रह वीणा प्रकाशित हुआ तो द्विवेदीजी ने उसकी भूमिका के कुछ अंशों के निकाल डाला। ग्रंथ इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था और वहाँ द्विवेदीजी सर्वेसर्वा थे। अतः द्विवेदीयुग और छायावाद की कविता-धाराएँ भिन्न-भिन्न थीं और उन्हें अलग-अलग लेकर ही चलना पड़ता है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में जा विशेषताएँ प्रस्फुटित हुई हैं, वे द्विवेदीयुग के काव्य का ही प्रतिनिधित्व करती हैं, छायावाद काव्य का नहीं। आगे हम इसी काव्यधारा का विश्लेषण उपस्थित करेंगे। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की भूमिका के रूप में इसका अध्ययन आवश्यक है।

द्विवेदीयुग की काव्यधारा को हम निम्नलिखित शीर्षकों में बाँट सकते हैं। १ रामचरित्र २ कृष्णचरित्र ३ शिवचरित्र ४ पौराणिक उपाख्यान ५ संतचरित्र ६ पौराणिक महाकाव्य ७ भक्ति-स्तुति ८ ऐतिहासिक खंडकाव्य ९ ऐतिहासिक महाकाव्य १० मानव-प्रशस्ति ११ सामाजिक तथा राष्ट्रीय १२ सामाजिक १३ विनोद व्यंग्य १४ प्रकृति चित्रण। इन्हें हम ६ वर्गों में रख सकते हैं—

(१) चरित्र काव्य (२) कथा काव्य (३) सामाजिक तथा राष्ट्रीय कविता (४) सामाजिक कविता (५) विनोद-व्यंग्य और (६) प्रकृति सम्बन्धी काव्य। चरित्र काव्य के अंतर्गत राम, कृष्ण, शिव, संतों और महापुरुषों के चरित्र आते हैं। महत्वपूर्ण रचनाएं हैं राम रसायन (जानकीप्रसाद महंत, १६११) राघवगीत (प्रयाग नारायण मिश्र, १६११) राम-चरणांक माला (लाला भगवानदीन, १६१२) रामचरित

चंद्रिका (रामचरित उपाध्याय, १६१६) रामायण (राधेश्याम १११६), राम-चरित चिन्तामणि (रामचरित उपाध्याय, १६२०) पंचवटी (मैथिलीशरण गुप्त, १६२५) और साकेत (मैथिली शरण गुप्त• १६३२)। इस परंपरा के काव्य बाद तक बनते रहे—भरत मुनि (शिवरतन शुक्ल, १६३२), वैदेही वनवास (हरिऔध, १६३६) कौशल किशोर (बलदेव प्रसाद मिश्र, १६३३) और रामचन्द्रोदय (रामनाथ-जोतिषी, १६३७)। कृष्ण चरित्र के महत्व ग्रंथ हैं प्रियप्रवास (अयोध्यासिंह उपाध्याय, १६१४) गोपिका-गीत (श्रीधर-पाठक, १६१६) कृष्ण जन्मोत्सव (देवीप्रसाद पांडेय १६३२) और द्वापर (मैथिलीशरण गुप्त, १६३६)। शिव-चरित्र संबंधी कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग में नहीं रचा गया, हां शक्ति-सबंधी महिषासुरमर्दन की कथा 'शक्ति' (मैथिलीशरण गुप्त, १६२८) में मिलेगी। संत चरित्र सम्बन्धी केवल दो ग्रन्थ प्राप्त हैं, अमर कथा (१६१२) और श्रीनाम देव वंशावली (१६२६) परन्तु ये महत्व पूर्ण नहीं हैं। आधुनिक वीरों और महापुरुषों के चरित्र-सम्बन्धी काव्य हैं गोखले गुणाष्टक (१६१५) और गोखले प्रशस्ति (१६१५), एवं गाँधी गौरव (१६१६)। ये भी विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं वास्तव में महत्वपूर्ण चरित्र-काव्य थोड़े ही हैं जैसे प्रियप्रवास, पंचवटी, साकेत, द्वापर, वैदेही वनवास और रामचन्द्रोदय।

द्विवेदी-युग में मौलिक कथाकाव्यों की रचना नहीं हुई। ऐतिहासिक या पौराणिक कहानियों को ही काव्य का विषय बनाया गया। पौराणिक विषयों की ओर इन कवियों की प्रवृत्ति अधिक थी और स्वयं द्विवेदीजी ने इन विषयों को और कवियों को प्रोत्साहन दिया था। महत्वपूर्ण पौराणिक कथाकाव्य हैं जयद्रथ बध (मैथिलीशरण गुप्त १६१०), हरिश्चंद्रोपाख्यान

(कृष्णदत्त शर्मा, १६१४), कीचक बध (शिवदास गुप्त, १६२१), अम्बरीष (रामनारायण चतुर्वेदी, १६२१) शकुन्तला (मैथिलीशरण गुप्त १६२३ चतुर्थ), दुर्योधन बध (जगदीश नरायण तिवारी, १६२६), त्रिपथगा (मैथिली शरण गुप्त १६२८) और नहुष (मैथिलीशरण गुप्त १६४०) । पौराणिक महाकाव्यों के रूप में भी बहुत सी सामग्री प्राप्त हुई । इसमें सबसे प्रमुख 'विश्वामित्र' (शहजाद सिंह, १६२५), नलनरेश (प्रताप नारायण, १६३३), और कामायनी (जयशंकर प्रसाद, १६३७) है । ऐतिहासिक खंडकाव्यों और महाकाव्यों की भी रचना हुई जिनमें प्रधान हैं 'हल्दीघाटी का युद्ध' (रामनारायण ठाकुर, १६०६), प्रेमराज्य (जयशंकर प्रसाद, १६१०), रंग में भंग (मैथिलीशरण गुप्त, १६१०), बुंदेलखण्ड का अलबम (देवी प्रसाद मुंसिफ, १६११), हल्दीघाटी की लड़ाई (हरिदास माणिक, १६१२), महाराणा का महत्व (जयशंकरप्रसाद, १६१४), मौर्यविजय (सियारामशरण गुप्त, १६१४), मेवाड़ गाथा (लोचनप्रसाद पांडेय, १६१४), चारण (श्रीनारायण चतुर्वेदी, १६१४), (प्रणवीर प्रताप, गोकुलचन्द्रशर्मा १६१५), औरंगजेब की नंगी तलवार (जगदीशप्रसाद तिवारी, १६१६), वीर पंचरत्न (लाला भगवानदीन, १६२०), पद्मिनी (लोकनाथ सिलाकारी, १६२३), पत्रावली (मैथिलीशरण गुप्त, १६२३ द्वितीय), वीरांगना तारा (सुरेन्द्रनाथ तिवारी, १६२४), वीर हम्मीर (रामकुमार वर्मा, १६२४), पद्मिनी (श्रीनाथसिंह, १६२४), वसुमती (दिवाकर प्रसाद वर्मा, १६२५), झांसी की रानी (सुभद्राकुमारी चौहान, १६२६) गुरुकुल (मैथिलीशरण गुप्त, १६२६), विकटभट (मैथिली शरण गुप्त, १६२८), चित्तौर की चिता (रामकुमार वर्मा, १६२८) । बाद को भी ऐतिहासिक खंडकाव्यों की यह परम्परा बराबर चलती रही । ऐतिहासिक महाकाव्य के रूप में जो

रचनाएं हमारे सामने आईं उनमें महत्वपूर्ण हैं अनघ(१६२५), तक्षशिला (१६३१), यशोधरा (१६३२), नूरजहाँ (१६३६), सिद्धराज (१६३६)। इनके लेखक हैं मैथिलीशरण गुप्त, उदय शंकर भट्ट और गुरुभक्तसिंह भक्त।

सामयिक तथा राष्ट्रीय विषयों पर रचनाएं १६२१ के अहिंसात्मक आन्दोलन के बाद आईं; परन्तु गुप्तजी की भारत-भारती (१६१२) और किसान (१६१७) में इस प्रकार की रचनाओं का श्रीगणेश पहले ही कर दिया था। प्रमुख रचनाएं हैं भारत-गीतांजलि (माधवशुक्ल, १६१४), भारत-विनय (मिश्रबन्धु, १६१६), भारतगीत (श्रीधर पाठक, १६१८), त्रिशूल तरंग (गयाप्रसाद शुक्ल, १६१६), राष्ट्रीय मन्त्र (गयाप्रसाद शुक्ल, १६२१), राष्ट्रीय वीणा (गयाप्रसाद शुक्ल, १६२२), मातृवन्दना (ईश्वरी प्रसाद शर्मा, १६२०), हृदय-वीणा (हनुमंतप्रसाद जोशी, १६१६), राष्ट्रभारती (रामचरित उपाध्याय, १६२१), जागृतभारत (माधव शुक्ल, १६२२)। छोटी-छोटी कहानियों के रूप में भी राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखा गया। इनमें प्रमुख हैं 'कृषक क्रन्दन' (गयाप्रसाद शुक्ल, १६१६), भारत भक्ति (रामचरित उपाध्याय, १६१६), अनाथ (सियाराम शरण गुप्त, १६२२), कुर्बानी (आनंदप्रसाद श्रीवास्तव, (१६२३), अछूत (मोहनलाल महतो, १६२५) और आर्द्रा (सियाराम शरण गुप्त, १६२८)। सामाजिक सुधार के अनेक आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों की विशेषता थी। आर्यसमाज आन्दोलन इन दिनों प्रखर था। अतः समाजसुधार-सम्बन्धी अनेक रचनाएं सामने आईं। इनमें प्रमुख थीं 'शङ्कर सरोज' (नाथूराम शंकर, १६१२ द्वितीय), अनुराग-रत्न (नाथूराम शंकर, १६१३), बूढ़े का ब्याह (अमीर-अली 'मीर', १६१४), सूक्ति-मुक्तावली (रामचरित उपाध्याय,

१६१५), कर्मवीर (अयोध्यासिंह उपाध्याय, १६१६), और रसाल वन (गिरिजादत्त शुक्ल, १६२०)। विनोद-व्यंग की भी कुछ रचनाएं सामने आईं, परन्तु वे महत्वपूर्ण नहीं हैं।

द्विवेदीयुग के काव्य में पहली बार प्रकृति को स्वतन्त्र स्थान मिला। वैसे षटऋतुवर्णन और बारहमासे के रूप में प्रकृति-वर्णन की परम्परा बराबर चली आती थी, परन्तु प्रकृति के स्वतन्त्र, वैभिन्न्यपूर्ण व्यक्तित्व की स्थापना काव्य में इसी समय हुई। छायावाद काव्य की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं से यह भिन्न श्रेणी की रचनाएँ हैं। 'ऋतुकाव्य' (प्रयागनारायण मिश्र, १६१०), ऋतुमुकुर (अयोध्यासिंह उपाध्याय, १६१७), वनाष्टक (श्रीधर पाठक, १९१२). मधुप (जगन्नारायण देव शर्मा, १६२३), चित्रकूट-चित्रण (विद्याभूषण विभु, १६२५), उषा (श्यामाकांत पाठक, १६२५), और 'प्रकृतिसौन्दर्य' (दरबखाँ, १६२६)। हिन्दी काव्य में यह नितांत नई प्रवृत्ति थी और परवर्तीकाल में यह विशेष रूप में विकसित हुई। अभी तक प्रकृति का वर्णन इति-वृत्तात्मक, वर्णन-प्रधान था, कालांतर में उसमें भावुकता का समावेश हुआ और प्रकृति को काव्य में उचित स्थान मिला।

ऊपर हमने द्विवेदी युग की काव्यधारा की विशाल सम्पत्ति का उल्लेख किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में काव्य का प्रकाशन मुख्यत: मासिक और साप्ताहिक पत्रों में हुआ। पुस्तकाकार बहुत थोड़ी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। जो प्रकाशित हुईं, वे विशेष महत्वपूर्ण नहीं थीं। द्विवेदी युग में भी मासिक पत्रों की बड़ी महत्ता बनी रही और अधिकांश मुक्तक काव्य उन्हीं के द्वारा पहली बार प्रकाश में आया, परंतु पुस्तक-साहित्य के रूप में भी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। मासिक पत्रों में प्रकाशित बहुत सी सामग्री संग्रहीत न होने के कारण आज हमें प्राप्त नहीं है, परंतु पुस्तक-स्वरूप में जो सामग्री प्राप्त है, उसके आधार पर हम

इस युग के काव्य के विषय और उपादान के संबंध में निश्चयात्मक निर्णय उपस्थित कर सकते हैं।

द्विवेदी युग में कविता के उपादान विशेषतयः तीन थे (१) मानव (२) प्रकृति और (३) राष्ट्र एवं देश-प्रेम। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले के काव्य में राम-कृष्ण, देवी देवता और महावीरों को जो प्रमुख स्थान था, वह अब भी बना रहा। परंतु इनकी ओर लेखकों और कवियों के दृष्टिकोण में महान परिवर्तन हो गया। सब को सामान्य मानव के धरातल पर उतरना पड़ा। मध्य युग के भक्तों के धार्मिक विश्वास ने हमें 'रामचरित मानस' और 'सूरसागर' जैसी चीजें दी थीं, परन्तु विज्ञान की नई शिक्षा और इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप ईश्वरवाद की नीव ही डिग गई। जिस श्रद्धा को लेकर अवतारवाद ने महाकाव्यों की सृष्टि की थी, वह श्रद्धा धीरे-धीरे लोप होती जा रही थी। आर्यसमाज जैसी प्रगतिशील संस्था अवतारवाद का विरोध करती थी, इसका भी प्रभाव पड़ा। फल यह हुआ कि इस युग के काव्य में राम-कृष्ण ब्रह्मत्व हीन, साधारण मानव रह गये हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त और रामचरित उपाध्याय ने राम और कृष्ण की अलौकिक बातों को हटा कर उन्हें लोक-नायक के रूप में चित्रित किया। एक तरह से यह बड़ा क्रांतिकारी क़दम था। मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत के प्रारंभ में ही इस प्रश्न को उठाया—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या
विश्व में रमे हुए, सभी कहीं नहीं हो क्या
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे
तुम न रमो तो मन तुममे रमा करे

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राम में कवि की ईश्वर-बुद्धि है,

परंतु 'साकेत' में जिस तरह राम का चित्रण है, उसमें अलौकिकता कहीं भी नहीं आने दी गई है। 'जयद्रथ बध' 'पंचवटी' 'साकेत'—सभी में कवि के विश्वास की कहीं भी परीक्षा नहीं ली गई है। स्वयं ईश्वर-विश्वासी होते हुए भी कवि अपने पाठकों के सम्मुख इन चरित्रों को अलौकिक बना कर नहीं रखता। उसका मंतव्य तो यह है कि ये चरित्र 'लोक-शिक्षा' के लिए अवतरित हुये थे—

लोक-शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया
राम-नाम ललाम जिसका सर्व मंगल धाम है
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है
(रंग में भंग)

इसी प्रकार 'हरिऔध' कृष्ण के गोवर्धन-धारण की कथा की नई व्याख्या करते हुए दिखलाई पड़ते हैं—

भ्रमण ही करते सबने उन्हें,
सकल काल लखा सप्रसन्नता
रजनि भी उनकी करती रही
सविधि-रक्षण में ब्रज-लोक के
लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने
(प्रिय प्रवास)

साकेत में राम अपने कुटुम्ब के बीच में प्रतिष्ठित महामानव ही हैं, परंतु रामचरित उपाध्याय ने 'चिंतामनि' में उन्हें राजनीतिज्ञ भी चित्रित करना चाहा है। इससे उनके मानवत्व को

विशेष बल नहीं मिल सका है। परंतु यह बात जरूर है कि रामकथा को कवि ने नये दृष्टिकोण से देखा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों (१८७५-१९००) में आर्य-समाज आन्दोलन ने जनता के धार्मिक विश्वासों की भित्ति हिला दी थी और सनातन धर्मी जनता को भी अपने राम-कृष्ण की नई व्याख्या करनी पड़ी थी। हमारे अधिकांश कवि सनातन धर्मी ही थे, अतः हमें इस युग के धार्मिक काव्य में एक नये दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। अध्यात्म के आकाश से उतार कर राम-कृष्ण को जनता के प्रतिदिन के जीवन के धरातल पर लाने का अभिनंदनीय प्रयत्न इस युग में हुआ है।

राम-कृष्ण को लेकर तो अनेक काव्यों की रचना हुई परंतु बुद्ध पर केवल एक काव्य मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' है। बुद्ध हिन्दी कवियों के प्रिय विषय नहीं रहे हैं, यह स्पष्ट है। जो हो, यह निश्चित है कि इस युग में अलौकिक शक्ति-शाली नायकों को मानव-सम्बन्धों के भीतर से देखने की नई चाल चली। धीरे-धीरे देवता की जगह मनुष्य ने ले ली। आदर्श मानव ही देवता बन गया। प्राचीन काव्य में पौराणिकता की प्रधानता थी। अनेक देवी-देवता काव्य के विषय थे। महाभारत और पुराणों की दैवी कथाओं को इस युग में भी हिन्दी पद्य में बदला गया, परंतु इनकी संख्या धीरे-धीरे कम होती गई। जिस नई पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में हम अपने देश का संस्कृति और अपने साहित्य को देख रहे थे उनमें इन अमानुषिक और अति-मानुषिक जीवों के लिये कोई स्थान नहीं था। नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित पाठक अनेक देवताओं और अनेक देव-लोकों में विश्वास नहीं कर सकता था। फलतः देवताओं का काव्य में स्थान नहीं रहा। यदि देव-कथा लिखी भी गई तो उसे नया मनोवैज्ञानिक रूप दे दिया गया। मैथिलीशरण का 'शक्ति'

काव्य इसका प्रमाण है। कथा प्रसिद्ध महिषासुर बध की ही कथा है, परन्तु इसमें रूपक द्वारा एक चिरंतन सत्य की ही प्रतिष्ठा हुई है। महान दुर्गुणों (दैत्यों) के नाश के लिए जनता का तेज किस प्रकार संग्रह किया जाना आवश्यक है, यही मंतव्य है।

१६०० से १६२० तक का समय हिन्दू पुनरुत्थान का युग था। आर्यसमाज के आन्दोलन (१८७५—१६००) के पहले पच्चीस वर्षों ने हिन्दुओं की चिर निद्रा को समाप्त कर दिया था जनता अपने अपने पौराणिक और ऐतिहासिक वीरों की ओर देखने में प्रवृत्त हुई। कृष्ण, भीम, अर्जुन जैसे पौराणिक वीरों को काव्य का विषय बनाया गया। कबन्ध (१६२१), कीचक बध (१६२१), गंगावतरण (१६२३) और शंकुतला (१६२३) पौराणिक और धार्मिक वीरों का ही गुण-गान उपस्थित करते हैं। मौर्यों से लेकर राजपूतों तक के सारे इतिहास के पृष्ठों को छान डाला गया। मौर्य विजय (सियारामशरण गुप्त), रंग में भंग (मैथिलीशरण गुप्त,१६०६), वीर पंचरत्न (लाला भगवानदीन, १६०६—१६१४), प्रणवीर प्रताप (गोगुलचंद शर्मा, १६१५), विकट भट और गुरुकुल (मैथिलीशरण गुप्त, १६१५ और १६२५), वीर हमीर (रामकुमार वर्मा, १६२३) और सती पद्मिनी (श्रीनाथसिंह, १६१५) इस काल की कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। राजपूत कथाओ में कवियों को अतीत के गौरव-गान की अच्छी सामग्री मिल गई। वास्तव में स्वदेशी आन्दोलन से पहले हमारे सामने एक ही बड़ा विषय था। वह था हिन्दू जाति का पुनरुत्थान। इन बीस वर्षों में पुराण, इतिहास और धर्म को नई दृष्टि दी गई, हिन्दुओं के ऐश्वर्य-काल के स्वप्न देखे गये और नई हिन्दू संस्कृति गढ़ने की चेष्टा हुई। बीसवीं शताब्दी के पहले दो शब्दों के काव्य में जो नई

चेतना और उसका कारण वे आन्दोलन ही थे जिन्होंने हिन्दू जातीयता और हिंदू राष्ट्रीयता को जन्म दिया। १६२१ के पास भारतीय राष्ट्रीयता का युग आता है। तब हम भूल जाते हैं कि इस राष्ट्रीयता की भित्ति हिंदू राष्ट्रीयता पर रखी गई थी। द्विवेदीयुग की काव्य इसीलिए एक विशेष ऐतिहासिक महत्व रखता है। साहित्य और कला की दृष्टि से उसमें बहुत नहीं है, परंतु हिन्दुओं की कई करोड़ जनता को सक्रिय, सजीव और क्रियमाण बनाने में यह काव्य सफल रहा है। 'भारत भारती' (१६१२) हिन्दू राष्ट्रीयता का ही उन्नायक है। एक समय था जब यह काव्य हिन्दी प्रदेश के एक कोने से दूसरे कोने तक जनता का कंठहार हो रहा था। उस समय राष्ट्रीयता के सक्रिय रूप का जन्म भी नहीं हुआ। अभी भारतीय राजनीति-क्षेत्र में गाँधी जी ने पदार्पण भी नहीं किया था। इस काव्य ने हिंदू धर्म, हिंदू दर्शन, हिन्दू पुराण और हिन्दुओं के प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रंथों की ओर देखा। एक दशक के भीतर ही खड़ी बोली की हिन्दी कविता में साहित्यिकता की यथेष्ट मात्रा आगई, इसका कारण यही है कि उसने प्राचीन संस्कृत ग्रंथों से सहारा लिया। द्विवेदी जी ने संस्कृत वृत्तों और महान संस्कृत ग्रंथों की ओर इशारा किया। उन्होंने लिखा—

अंग्रेज़ी ग्रन्थ-समूह बहुत भारी है
अति विस्तृत जलधि-समान देह धारी है
संस्कृत भी सब के लिए सौख्यकारी है
उसका भी ज्ञानागार हृदय - हारी है
इन दोनों मे ही अर्थ रत्न ले लीजे
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेम - युत कीजे

उस युग के कवियों ने पहले संस्कृत की ओर देखा। श्रीधर पाठक प्रभृति कुछ कवियों ने १८ वीं शताब्दी के अंग्रेजी कवियों

के काव्य से भी सहारा लिया, परंतु अधिकांश कवि संस्कृत काव्य-साहित्य से ही प्रभावित हुए। उसी के बल पर उन्होंने नई काव्य-रचना में योग दिया। १६०० में लिखे हुए पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'बली वर्द' की पंक्तियाँ लीजिये—

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महराज
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मोहताज
तुम्हें खण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयी जन सिरताज
धिक् उनको उनपर हँसता है बुरी तरह पर सकल समाज

१६४७ में हम सेठ गोविंददास को ये नितांत गद्यमय पंक्तियाँ लिखते पाते हैं—

खेल खेलता खासे - खासे
नित उठ करता अजब तमासे
देखा तूने भारतवासी
बने हुए हैं योग विलासी
बस तुरंत कर्ज़न को भेजा
कटवाया बंगाल कलेजा
चौंक उठे बंगाली भाई
तब उनको घर की सुधि आई
रोये पीटे बिलखे भारी
सुखद स्वदेशी विधि विस्तारी

गद्य की भाषा से इस पद्य की भाषा थोड़ी भिन्न नहीं है। धीरे-धीरे कलात्मकता आई। मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ बध' (१६१०) में पहली बार कला को उन्मेष देखते हैं। उपमा, उपेक्षा और रूपक के भीतर से काव्य-सामग्री को सजाया जाने लगा। यथा

टंकार ही निर्घोष था, शरवृष्टि ही जलवृष्टि थी
जलती हुई रोषाग्नि से उद्विग्न विद्युत दृष्टि थी

गाडीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था
उस काल अर्जुन बीर पर अद्भुत जलधि गंभीर था

इस प्रकार प्राचीन साहित्य और साहित्य-धाराओं के आधार पर ही नई खड़ी बोली के साहित्य को संस्कृति गढ़ी गई। १६२५ में 'पंचवटी' की रचना हुई। तब खड़ी बोली में अपने ढङ्ग पर इतनी साहित्यिक प्रतिभा का समावेश हो गया था कि किसी भी युग के प्रौढ़ काव्य के समकक्ष उसे रखा जा सकता था। 'पंचवटी' की शूर्पणखा का चित्र देखिये—

कटि के नीचे चिकुरजाल में उलझ रहा था बाँया हाथ
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भवरों के साथ
दांया हाथ लिए था सुरभित चित्र-विचित्र सुमन माला
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला

१६०६ में सरस्वती में प्रकाशित 'वर्षा' शीर्षक कविता देखिये—

वर्षा आई—वर्षा आई
जलदों ने जल—नदी बहाई
देखो घोर घटा नभ छाई
बूँदों की है झड़ी लगाई

इन्द्रधनुष की छटा निराली
बीर बहूटी लाली लाली
शोभामयी हुई हरियाली
सब का चित्त लुभाने वाली

और फिर पंचवटी (१६२५) का यह प्रभात-चित्र पढ़िये—

उसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति नटी का रंग
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटा दिवा के दमके अंग
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब ऊषा थी

पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी
अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी
अवनी की ऊषा सजीव थी अम्बर की सी मूर्ति न थी

दोनों में इतना भेद है कि आश्चर्य होता है। वास्तव में हमारी जन-भाषाओं (बोलियों) ने जब-जब साहित्य का रूप ग्रहण किया है जब जब वे अपने अपने सीमित क्षेत्रों से निकल कर बाहर गई हैं, तब तब उन्होंने संस्कृत शब्द-कोष और संस्कृ भावराशि से सहारा लेकर ही ऐसा किया। १५४० ई० की जायसी की 'पद्मावत' और १५७५ ई० के तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में जो महान अंतर हैं, वह इसी कारण है। ब्रजभाषा काव्य की सारी प्रौढ़ता और 'सूरसागर' के सारे माधुर्य के पीछे संस्कृत के साहित्यिकों और कवियों की युग-युग की साधना छिपी है। इस शताब्दी के पहले दशक में केवल मात्र बोलचाल की खड़ी बोली ने जो इतनी शीघ्रता से 'साहित्य' का रूप ग्रहण कर लिया इसका कारण यही था कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त ने उसे संस्कृत भाषा और साहित्य की अपार धन-राशि से भर दिया। कुछ दिनों के प्रयोग के बाद नये कवियों ने यह जान लिया कि संस्कृत वृत्तों का प्रयोग हिन्दी की संस्कृति के विपरीत है। उन्होंने उन्हें छोड़ दिया और हिन्दी की संस्कृति के आधार पर नए वृत्तों की खोज की। वे इसमें सफल भी रहे।

ऊपर हमने राजपूतों पर लिखी हुई खड़ी बोली की काव्य-गाथाओं का उल्लेख किया है। इस युग में १९०५ के बङ्गभङ्ग के आंदोलन के बाद जनता में देश-प्रेम और वीरता की भावना जाग्रत हुई और सक्रिय अहिंसा के रूप में गांधीजी ने वीरता का एक नया दर्शन लोगों के सामने रखा। इस आदर्श से प्रेरित होकर नई-नई कविताएँ लिखी गईं। मैथिलीशरण गुप्त

की 'यात्री' शीर्षक कविता इस नई प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है—

मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में
हिंस्र जंतु लगे हुए हैं प्राणियों की घात में
चाहते हैं सरल कंटक दान थोड़ा
क्या न दूँ इनको पदों में स्थान थोड़ा
हिंसक पशु ये मेरे आगे मुँह बा-बा कर आते हैं
इनपर मुझे दया आती है दीन दाँत दिखलाते हैं
भक्ष्य आख़िर है इन्हीं का मांस मेरे गात में
मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में

मरण मेरे शरण आया है न लूँ क्या
और यह तनु दान भी उसको न दूँ क्या
इस प्रकार मैं हलका होकर सहज पार हो जाउँगा
देह नहीं हूँ मैं ही हूँ मैं तुझे शीघ्र ही पाउँगा
बस मुझे विश्वास दे विश्वेश ! तू इस बात में
मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरस्त्र प्रतिरोध का एक नया शस्त्र इस युग में जनता के हाथ में आ गया। जाति के किसी एक विशेष दल से इसका सम्बन्ध नहीं था। राजपूती क्षत्रियों की बपौती थी, परन्तु यह राजपूती जाति-विशेष या वर्ण-विशेष से मोह नहीं रखती थी। साहस और वीरता की नई परिभाषा हुई और महामानवों और अतिमानवों के स्थान पर साधारण जनता के नायकत्व की रीति चली।

वास्तव में इस युग की सबसे बड़ी देन यही थी कि कविता का मुँह राजों-महाराजों और सेठों की ओर से हटकर साधारण

जनता की ओर होगया। सामान्य मानवता की जय-जयकार गाई जाने लगी। 'सरस्वती' जनवरी, १६०६, में स्वयं पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कल्लू अल्हैत की जीवनी ('सरगौ नरक ठिकाना नाहिं') लिखकर इस प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। सुधारवादी काव्य, सामाजिक व्यंग और किसानों और मज़दूरों पर लिखी कविताएँ जनमुखापेक्षी होने के कारण इसी परंपरा को आगे बढ़ाती हैं। मैथिलीशरण गुप्त का 'किसान', सियाराम शरण गुप्त का 'अनाथ' (१६१७) और गयाप्रसाद शुक्ल का 'कृषक क्रन्दन' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। विधवाएँ, कृषक और अनाथ (भिक्षुक और बालक) इस युग की अवहेलना को सबसे अधिक छू सके हैं और अनेक कविताएँ इनके विषयों में मिलेंगी। यह स्पष्ट है कि द्विवेदीकाव्य अपनी युग-चेतना के प्रति सतर्क था। अपने युग की समस्याओं को उसने काव्य का विषय बनाया है और कवियों ने जनता की दुर्दशा पर आँसू बहाये हैं। यदि जनता और समाज से कविता का सम्बन्ध बने रहना प्रगतिशीलता है, तो यह काव्य अवश्य प्रगतिशील थी। १६वीं शताब्दी की सामयिक राजनीतिक कविता की परंपरा तो समाप्त हो गई थी, लोकगीतों और लोकगाथाओं के रूप में टैक्स, दुर्भिक्ष, जलवृष्टि (बाढ़) इत्यादि विषयों पर अब नहीं लिखा जा रहा था, परन्तु कवि समाज की दुर्बलताओं के प्रति सचेष्ट थे। आर्यसमाज का समाजसुधार आन्दोलन अभी बलशाली रूप में चल रहा था, अतः समाज और देश की समस्याओं को आँख की ओट नहीं किया जा सकता था। १६१३ के लगभग छायावाद काव्य की जो धारा सामने आई उसकी मूल प्रेरणा साहित्यिक थी और वह विप्रांतीय (बङ्गला) और विदेशीय (अंग्रेज़ी) साहित्य का ही अनुसरण करती थी। उसने समाज और जनजीवन से अलग रहकर आकाशवृत्ति स्वीकार की।

परन्तु द्विवेदीयुग का काव्य इस कांक्षा से दूर रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी की कविता में पहली बार प्रकृति पर स्वतंत्र रूप से कविताएँ लिखी गईं और इसका श्रीगणेश पं० श्रीधर पाठक ने किया। बीसवीं शताब्दी में भी प्रकृति लोकप्रिय विषय रहा और कदाचित् कोई ही महत्वपूर्ण काव्य ऐसा हो जिसमें प्रकृति को योग्य स्थान नहीं मिला हो। काश्मीर सुषुमा में (व्रजभाषा में) पहली बार प्रकृति का स्वतन्त्र ऐश्वर्य दिखलाई पड़ा—

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति
पलपल पलटति भेष छनिक छवि छिनछिन धारति
विमल-अंबु सर मुकुरन मँह मुख बिंब निहारति
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन वारति
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर
यहीं अमरन को लोक यही कहुँ बसत पुरंदर

'प्रियप्रवास' (१९१०) में खड़ी बोली (परन्तु संस्कृत वृत्तों) के भीतर से प्रकृति की माधुरी पहली बार झलकी। इस महाकाव्य का आरम्भ ही संध्या के एक सुन्दर चित्र से हुआ है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु-शिखर पर थी अवराजती
कमलिनी - कुल - वल्लभ की प्रभा
विपिन - बीच विहंगम बृन्द का
कल निनाद समुत्थित था हुआ
छविमयी - विविधा विहगावली
उड़ रही नभ - मंडल मध्य थी

मेघों का एक चित्र देखिये—

सरस - सुन्दर सावन मास था
घन रहे नभ में घिर - घूमते
विलसती बहुधा जिन में रहीं
छबिवती उड़ती बक-मालिका
घहरता गिरि सानु समीप था•
बरसता छिति छू नदवारि था
घन कभी रवि अंतिम अंशु ले
गगन में रचता बहु चित्र था

नव प्रभा परमोज्ज्वल लीक सी,
गतिमती कुटिला फणिनी समा।
दमकती डरती घन अंक में,
विपुल केलि-कला खगि दामिनी ॥

रामनरेश त्रिपाठी की रचना ने प्रकृति-वर्णन में कुछ अधिक स्वाभाविकता का समावेश किया। मिलन, पथिक और स्वप्न में उन्होंने देशभक्ति और कथा के साथ प्रकृति को अनिवार्य रूप में गूँथ दिया है। भाषा के ओज के साथ प्रकृति का यह प्रगल्भ वर्णन और कहाँ मिलेगा—

घोर निशीथ, गँभीर तमावृत, शांत दिशा आकाश
लखि तारागण करते थे झिलमिल सा अल्प प्रकाश
प्रकृत मौन, सचराचर निद्रित, अति निस्तब्ध समीर
जाग्रत दिन में लताविनिर्मित केवल एक कुटीर
(मिलन)

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला ॥
रवि के सम्मुख थिरक रही थी नभ में वारिद माला ॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है ॥
(पथिक)

वास्तव में १६०३ में 'कुमार-संभव' के अनुवाद में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रकृति-वर्णन का जो रूप उपस्थित किया, वह इससे अधिक भिन्न नहीं था। यह वासनामय सौन्दर्य है तो कालिदास का, परन्तु हिन्दी भाषा मेंउसे सफलतापूर्वक उतारने की कला तो द्विवेदी की ही है—

फूल रूप एक ही पात्र में भरा हुआ था मधु मकरंद
भ्रमरी के पीने के पीछे पिया भ्रमर वर ने सानन्द ॥
छूने से जिस मृगी प्रिया के सुखवश हुए विलोचन बन्द ।
एक सींग से उसे खुजाया कृष्ण सार मृग ने सानन्द ॥

जो हो, इसमें संदेह नहीं है कि द्विवेदीयुग के काव्य में पहली बार प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्थापित हुई और कविता ने प्रभात-सायं से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित किया।

प्रकृति-काव्य की भाँति देशभक्ति की कविता इस युग की एक नई विशेषता थी। राष्ट्र के रूप में भारत की कल्पना १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के बाद हुई और श्रीधर पाठक ने पहली देशभक्ति के स्तोत्र लिखे, जैसे

जय जय भारत हे !
जय भारत, जय भारत, जय जय भारत हे !
जयति जगत-सेवा-हित-सुकृत सदा रत हे !
जयति जयति जय नागर, जय गुन आगर हे !
जय शोभा के सागर, जगत उजागर हे !
इत्यादि

परन्तु कलापूर्ण मातृभूमि एवं देशप्रेम की कविताएँ पहलीबार मैथिलीशरण गुप्त ने ही लिखी। मातृभूमि ही सर्वेश बन गई—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है

नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सन्देश की

रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, त्रिशूल, माखनलाल इत्यादि न जाने कितने कवियों ने देश में नया शोणित भरा और जनता को बलिदान के लिए तैयार किया। अच्छी-बुरी सैकड़ों-हज़ारों देशभक्ति पूर्ण कविताएँ इस सारे काल की विशेषता हैं। इन कविताओं का साहित्य के इतिहास में चाहे इतिहास महत्व न हो, जनजागृति के इतिहास में इनका महत्व कम नहीं है। इन राष्ट्रवादी कवियों में माधवशुक्ल और मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा का नाम न लिखना अकृतज्ञता होगी। परंतु सबसे बड़े राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ही हैं। १९१८ में 'भारतभारती' लिखकर उन्होंने राष्ट्रीय कविता का सूत्रपात किया था, परंतु वह देश की राजनीतिक जागृति के युग में निश्चेष्ट नहीं हो गये। बीसियों उत्साहपूर्ण देशभक्ति-पूर्ण कविताएँ लिख कर उन्होंने जनता में राजनैतिक चेतना भरी। जनता उन्हें विशेषतयः 'भारत-भारती' और इन राष्ट्रीय कविताओं के कवि के रूप में जानती है। १९२८ पर बारदोली संग्राम की विजय के अवसर पर उन्हों ने हल्दीघाटी और थर्मापोली से उसकी तुलना कर जनता के वीरों का सत्कार किया। उन्होंने कहा—

ओ विश्वस्त बार डोली ! ओ भारत की थर्मापोली
नहीं नहीं फिर भी सशस्त्र थी ग्रीक सैनिकों की टोली
हल्दीघाटी के रण की भी वही पूर्ण परिपाटी थी
बढ़ बढ़ कर वैयरी की सेना वीरवरों ने काटी थी

पर तू है निःशस्त्र तपस्विनि ! फिर कैसे समता होगी
उपमा आप बनेगी तू यदि क्षोणी में शमता होगी

उन्होंने जनता की आशाकांक्षाओं को वाणी दी और हिन्दु-राष्ट्रीयता को भारतीय राष्ट्रीयता की ओर मोड़ा। वास्तव में मैथिलीशरण गुप्त हमारे स्वातन्त्र्य युद्ध के उतने ही बड़े कवि हैं, जितने बड़े कथाकार प्रेमचन्द हैं। हमारे राष्ट्रीय काव्य में वहाँ गद्यात्मक भावनाप्रधान ऐसी पंक्तियाँ हैं—

निकल पड़ो अब बन कर सैनिक, भय न करो अब प्रानों का
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे, कौल रहे मरदानों का
अन्धे होकर पुलिस चलाये डंडे कुछ परवाह नहीं
घर का माल लूट ले जाये निकले मुँह से आह नहीं
जेल यातना हो निर्दय दल करे गोलियों की बौछार
ईश्वर का सुमिरन कर वीरों ! सहते जाओ अत्याचार
धनी देश रिपु, दास नपुंसक लखें दृश्य बलिदानों का
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे कौल रहे मरदानो का

वहाँ मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ और रामनरेश त्रिपाठी के कथा-काव्य और माखनलाल चतुरवेदी की सांकेतिक कविताएँ भी हैं। बहुत बड़ा असंतलित राष्ट्रीय कविताओं का भांडार इस शताब्दी के पहले दो दिशाओं में हमारे पास इकट्ठा हो गया है। यह भावी पीढ़ियों की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक निधि होगी, इसमें संदेह नहीं।

कविता के रूप और शैली के विषय में भी इस काव्य में महान परिवर्तन हो गया। इतनी विविधता सारे प्राचीन हिन्दी काव्य में नहीं मिलेगी। अलंकारों के द्वारा कवित्त-सवैया छंदों में व्यंजना की रीति चल रही है जैसे नाथूराम 'शंकर' लिखते हैं—

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है
कि श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है,
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है
कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है
कि तेज़ा ने तिमिर के हिये में तीर मारा है ;
काली पाटियों के बीच मोहिनीकी माँग है
कि ढ़ाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है

परंतु इस उद्धरण से द्विवेदी युग की शैली-विषयक मूल प्रवृत्ति में संबध में कुछ जान नहीं पड़ता। द्विवेदी युग की कविता का प्रतिनिधित्व रामचरित उपाध्याय या मैथिलीशरण गुप्त के हरिगीतिका छन्द करते हैं जिनमें विषय या भावना को सहज ढंग से गद्यात्मक रूप में रख दिया जाता है। रामचरित उपाध्याय का सूक्ति-मुक्तावली का एक छन्द है—

न्याय परायण जो नर होता उसकी कभी न होगी हार
कपटी कुटिल कोटि रिपु उसके हो जावेंगे क्षण में क्षार
पांडव पाँच रहे, कौरव सौ, राम एक थे निशिचर लक्ष
विजयी वे ही हुए, देख लो, न्याय युद्ध था जिनका पक्ष

इसमें केवल तथ्य-वर्णन है। कवि ने इतने से ही पर संतोष कर लिया है। द्विवेदी जी के 'कुमारसंभव' के अनुवाद से एक दूसरा उदाहरण लीजिये—

यक्षराज जिसका स्वामी है, उसी दिशा की ओर प्रयाग
करते हुए देख दिनकर को उल्लंघन कर समय विधान
मन में अति दुःखित सी होकर हुआ जान अपना अपमान
छोड़ा दक्षिण दिशा बधू ने मलयानिल विश्वास समान

इस रचना में पहली रचना से कुछ अधिक काव्यत्व है, भाषा

तत्सम-प्रधान है, परन्तु मूल रूप से कोई अंतर नहीं हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुद्ध काव्यतत्त्व की दृष्टि से द्विवेदी-युग का काव्य विशेष महत्त्व पूर्ण नहीं है। वह भाषा, छन्द और शैली की दृष्टि से मुख्यतः पयोगात्मक है। वार्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के वृत्तों के अनेक प्रयोग हुये। जहाँ एक ओर यह भी खड़ी बोली हिंदी की कविता कही गई—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकला पुत्तली
शोभाबारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं

वहाँ उर्दू की यह कविता भी हिन्दी की ही कविता थी—

उमंगों भरा दिल किसी का न टूटे
पलट जायँ पाँसे मगर जुग फूटे
कभी भंग निज भंगियों का न छूटे
हमारा चलन घर हमारा न लूटे
सगों से सगे कर न लेवें किनारा
फटे दिल मगर घर न फूटे हमारा

(हरिऔध)

इन दोनों उदाहरणों के बीच में छन्द, भाषा और शैली के न जाने कितने रूप उन दिनों कविता के नाम पर प्रसिद्धि पा रहे थे। आज काल ने उनके ऊपर अपनी शीतल छाया कर दी है और उनका मूल्य केवल ऐतिहासिक रह गया है। फिर भी कदाचित् रीतिकाल की कविता को छोड़ कर हिन्दी के किसी युग में इतनी अधिक और इतनी असमर्थ रचनाएँ प्रकाशित नहीं हुईं (यह सत्य के अधिक निकट होगा, यदि हम कहें कि 'लिखी नहीं गईं')। परन्तु प्रयोगों के बाद धीरे-धीरे भाषा-शैली में प्रौढ़ता भी आई और छन्दों की सामर्थ्य भी बढ़ी।

बीसवीं शताब्दी के इन पहले बीस वर्षों में प्रबन्ध काव्य, गीत काव्य और मुक्तक तीनों लिखे गये। परन्तु गीति-काव्य की ओर प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई। यह गीत-काव्य की परंपरा वास्तव में उन्नीसवीं शती के लावनी-कजली-आल्हा प्रभृति लोक-गीतों से प्रारम्भ हुई थी। सन्तों और भक्तों की गीति-परम्परा से वह भिन्न थी। वास्तव में आधुनिक गीतिकाव्य की शैलियों के लिए हिन्दी के पश्चिमी (खड़ी बोली) प्रदेश के लोकगीतों की शैलियों की खोज करनी होगी। लावनी, कजरी, दादरा, बिरहा इत्यादि को नया साहित्य-संस्कार मिला। "टेक" (एक विशेष चरण की पुनरुक्ति) का चलन बढ़ा। श्रीधर पाठक में हिन्दी गीतिकाव्य का प्रारम्भ पाते हैं। बाद में अनेक गीतिशैलियों का प्रयोग हुआ। इस नई प्रवृत्ति के विकास का अपना इतिहास है जो अभी लिखा नहीं गया है। गीतिकाव्य की लोकप्रियता के कारण आख्यानक गीति भी लिखे गये। मैथिली शरण गुप्त के 'रंग में भंग' 'विकट-भट' और 'गुरुकुल' आख्यानक गीति ही हैं। इनमें आल्हा-शैली या किसी ऐसी ही लोकप्रिय शैली के ढंग पर गीतिप्रधान पंक्तियों की योजना हुई है। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि प्रबन्ध काव्यों और महाकाव्यों में गीतिकाव्य का समावेश हो गया। 'साकेत' का नवाँ सर्ग और 'यशोधरा' इसका प्रमाण है। परन्तु यह विशेष महत्व की बात है, कि द्विवेदी युग में गीतिकाव्य में इतनी साहित्यकता नहीं आई कि वह जन-जीवन से छूट कर अलग हो गया और ध्रुपद-धमार की गायकी की तरह उसकी भी एक अलग कला बन गई। कुछ वर्षों बाद छायावादी कवियों ने गीतिकाव्य को जनता के जीवन से दूर ले जाकर कलात्मक खिलवाड़ बना डाला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदीयुग (१९००—१९२०)

में कविता की भाषा, कविता के विषयों और कविता में वाह्य रूप(छन्द और शैली) में चतुर्दिक क्रांति हुई। भाषा के लिए खड़ी बोली को स्वीकार किया, विषय अनेक रहे और कविता के वाह्य रूपों के संबन्ध में बड़ी मात्रा में प्रयोग किये गये। यह अवश्य है कि इन प्रारंभिक प्रयोगों के बाद हिन्दी में कोई इतनी बड़ी चीज़ नहीं आई कि हम स्तंभित रह जाते। १६वीं शताब्दी में गद्य में खड़ी बोली का व्यापक प्रयोग हुआ था और गद्य की भाषा में बड़ी सजीवता और प्रौढ़ता आ गई थी। परंतु कलात्मक प्रयोग इस क्षेत्र में भी नहीं हो सके थे। जब खड़ी बोली की कविता का आरम्भ हुआ तब गद्य की भाषा-शैली ही उसका आदर्श रही। सुधारवादी और पौराणिक काव्य में साहित्य की अधिक अपेक्षा भी नहीं थी। परन्तु पौराणिक विषयों और संस्कृत-बङ्गला के अनुवादों ने खड़ी बोली की कविता को तत्समता की साहित्यिकता दी और उसे साहित्य के पथ पर आगे बढ़ाया। नये सामाजिक विषयों का समावेश उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो गया था। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की सामयिक और राष्ट्रीय कविता इसका प्रमाण है। खड़ी बोली की कविता का आरम्भ भी १८८४ के लगभग भारतेन्दु के कुछ छन्दों से हुआ जो उन्होंने प्रयोगात्मक रूप से 'भारतमित्र' (साप्ताहिक, कलकत्ता) में छपाये थे—

बरसा सिर पर आ गई, हरी हुई सब भूमि
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण झूमि
करके याद कुटुम्ब की फिरे विदेशी लोग
बिछुड़े प्रीतम-वालियों के सिर छाया सोग
खोल खोल छाता चले लोग सड़क के बीच
कीचड़ में जूते फँसे जैसे अघ में नीच

× × ×

गरमी के आगम दिखलायो रात लगी घटने
कुहू-कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई
सरस सुगंध सिरिस फूलों की कोसों तक छाई

इस उद्धरण के अतिरिक्त कुछ अन्य छन्द भी भारतेन्दु के प्राप्त हैं

वह नाथ अपनी दयालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो
वह जो क़ौल भक्तों से था किया तुम्हें याद हो कि न याद हो
सुन गज की जैसी न आपदा न विलंब छिन का सहा गया
वहीं दौड़ उठ्ठे पियादे-या तुम्हें याद हो कि न याद हो

(भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ५५०)

कभी निशा चंद-उजाला से धुली
कभी अनूठे जल-यंत्र के भवन
कभी मले चंदन-लेप ही, कभी
करें प्रिये सेवन ग्रीष्म में सुजन

(वंशस्थ छंद)

जल जल तृण सूखे दाह दावानली से
प्रवल पवन फेंके शुष्क पत्ते ऊड़े हैं
दिनकर जलने से क्षीण जल सब दिशा में
बन थल चढ़ ऊँचे दीखते डर लगे हैं

(मालिनी छंद, 'हिन्दोस्तान', ४ अप्रैल १६२८)

जैसे वास्तव में लोकगीत और प्रचार छन्दों के रूप में खड़ी बोली की कविता शताब्दियों से चली आ रही थी। इस लिए पहले-पहल इन्हीं से सहारा लिया गया। पंडित भवदेव की यह कविता लीजिये—

उठो अब नींद को त्यागो, बहुत सोये हो अब जागो
मेरी यह बात मानो तुम दशा भारत की जानो

सुधारो रीति-नीतों को, उठाओ सब कुरीतों को
करो कुछ देश का उपकार कि दुख सागर से होवें पार
(शुभ चिंतक, खंड १, नंबर ५)

या श्रीधर पाठक की यह कविता पढ़िये—

यह भूमि भारती, अब क्या पुकारती
इसके ही हाथ से तो हुई इसकी दुर्गती
होते हैं पाप घोर लाखों अरब करोर
सब शोर करते हैं पचपच के मरते हैं
(हिन्दी प्रदीप, खंड ८, नंबर ५)

यह स्पष्ट है कि इन प्रारंभिक कविताओं में इतना भी बल नहीं था जितना उस समय की खड़ी बोली के लोकगीतों में। इसीसे ब्रजभाषा के उत्कृष्ट काव्य के प्रेमियों ने स्पष्ट कहा कि इस नई बोली में कविता हो ही नहीं सकती। खड़ी बोली और ब्रजभाषा कौन काव्यभाषा रहे, इस विषय को लेकर बड़े-बड़े विवाद चल पड़े। १८८७ और १८८९ में बाबू अजोध्या प्रसाद खत्री ने दो भागों में "खड़ी बोली का पद्य" प्रकाशित किया। इसके साथ ही उन्होंने और उनके साथियों ने खड़ी बोली को काव्यभाषा का माध्यम स्वीकार कराने के लिए आंदोलन किया। ये सब खड़ी बोली प्रदेश (मेरठ और आगरा) के ही लोग थे और खड़ी बोली इनकी मातृभाषा थी। इस प्रकार इस आंदोलन के मूल में एक प्रदेश विशेष के साहित्यकों का मातृ-भाषा प्रेम ही था। अन्य प्रदेशों के साहित्यकों ने ब्रजभाषा का पक्ष लिया। राधाचरण गोस्वामी, भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र खड़ी बोली आन्दोलन के विपक्ष में थे। श्रीधर पाठक, 'हिन्दोस्तान' के संपादक थे और पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने इस पक्ष का समर्थन किया और विजय उन्हें ही मिली।

गद्य और बोलचाल के क्षेत्र में खड़ी बोली के उर्दू और हिन्दी रूपों को जो व्यापकता प्राप्त थी उन्होंने, खड़ी बोली काव्य की भाषा हो, इस पक्ष को विशेष बल दिया। विपक्ष वाले कहते थे—

(क)"कवित्त सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता ?"

(ख)"फ़ारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्यिक गौरव नहीं आता ?"१

(ग) "खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में ख़ाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जाय।"२

(घ)"पश्चिमोत्तर देश की जनता की भाषा ब्रजभाषा है।"३

(ङ) "मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरी चिन्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम है।"

(च) खड़ी बोली में कवियों की निरंकुशता को कोई स्थान नहीं मिल सकेगा।

(छ) खड़ी बोली की कविता कटु-कर्ण होगी। ब्रजभाषा की कविता की मधुरता उसमें नहीं आ सकती।

खड़ी बोली के समर्थकों ने विपक्षियों के इन सभी आक्षेपों का उत्तर दिया। उन्होंने कहा—

---

१ हिन्दोस्तान, ११ नवम्बर, १८८७ (राधाचरण गोस्वामी)

२ वही, १५ जनवरी, १८८७ (वही)

३ भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतमित्र, १ सितम्बर १८८१

(क) "खड़ी बोली इतनी प्रचलित है कि भारतवर्ष के सब प्रांतों में थोड़ी बहुत समझी जाती है।"

(ख) "घनाक्षरी, सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छंद ऐसे हैं कि जिनमें खड़ी बोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आ सकती है।"

(ग) ब्रजभाषा की कविता में नये विषयों का समावेश नहीं हो सकता।

(घ) "खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पावेगी, जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के संरक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की क्या ताब जो चौखट के भीतर पाँव रख सके।"

(ङ) "हम यह नहीं कहते कि नवीन हिन्दी की कविता ब्रजभाषा की कविता से मधुर होती है। हमारा तो इतना ही मंतव्य है कि नवीन हिन्दी में जैसे गद्य है वैसे पद्य भी होना चाहिये। कवियों की निरङ्कुशता क्या शब्दों के सत्यानाश में मिलाने में होती है। निरंकुशता कथन की रीति से सम्बन्ध रखती है।...फिर हमें क्या पड़ी है जो शब्दों को बिगाड़ें।... यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी हिन्दी कविता के उपयुक्त नहीं है। गद्य और पद्य की भिन्न भिन्नभाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।"

(च) "यह बात दूसरी है कि चिरकाल के परिचय और अभ्यास तथा कुछ स्वरादिकों की कोमलता के कारण हिन्दी के उस रूप की कविता जिसको हम ब्रजभाषा कहते हैं हमको अधिक सुन्दर मनोहर और प्यारी लगती है, परन्तु कालांतर में प्रचलित भाषा की कविता भी हमको वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी।"

'सरस्वती' (१६०६) ने इस भाषा के प्रश्न का फ़ैसला कर दिया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी सारी शक्ति खड़ी बोली कविता के आन्दोलन को दी और १६०३-१६१८ तक सरस्वती खड़ी बोली कविता का केन्द्र बनी रही। द्विवेदीयुग की कविता का अध्ययन करने के लिये इन १५ वर्षों की सरस्वती का अध्ययन अनिवार्य है। उन्नीसवीं शताब्दी में श्रेष्ठ कविता कही जाने वाली केवल कुछ ही रचनाएँ खड़ी बोली में लिखी गईं जैसे श्रांत पथिक, हेमंत, वर्षा वर्णन। इन सब का श्रेय श्रीधर पाठक को है। उन्हींने खड़ी बोली कविता की समर्थता का पहले परिचय दिया। परन्तु श्रीधर पाठक की सारी कविता में उतना कवित्व नहीं है, भाषा का उतना सुन्दर रूप नहीं है जितना महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'कुमार संभव' के अनुवाद (१६०३-४) में। परन्तु मौलिक कविता लिखने की प्रतिभा द्विवेदी जी में अधिक नहीं थी, अतः उन्होंने एक तरुण को इस ओर प्रवृत्त किया। उसमें उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा है इसका पता उन्हें लग गया था। यह तरुण मैथिलीशरण गुप्त थे। द्विवेदी युग की खड़ी बोली कविता का प्रतिनिधित्व उन्होंने ही किया।

भाषा की समस्या हल हो गई तो छंद की समस्या आई। द्विवेदीजी ने इस ओर विशेष रूप से मार्गप्रदर्शन किया। उन्होंने संस्कृत वृत्तों (वार्णिक छंदों) के प्रयोग के लिए कवियों को प्रोत्साहित किया। उन्हीं के अनुकरण में मैथिलीशरण गुप्त और अन्य अनेक कवियों ने संस्कृत वृत्तों में कविता की। हरिऔध का 'प्रियप्रवास' (१६०४) संस्कृत वृत्तों में हिंदी की सब से बड़ी रचना है। कुछ समय तक तो कवि संस्कृत, बंगला और उर्दू के छंदों को प्रयोग रूप में काव्य में लाते रहे। श्रीधर पाठक का काव्य छंदों का एक अच्छा खासा अजायबघर लगेगा।

संस्कृत और उर्दू के छन्दों का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ, परन्तु वे निःसंदेह हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध थे। संस्कृत वृत्तों में सब से अधिक कविता महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त ने उपस्थित की। इसमें उन्हें सफलता भी मिली, परन्तु प्रयोग द्वारा शीघ्र ही कवियों ने जान लिया कि संस्कृत वृत्त हिंदी (खड़ी बोली) की संस्कृति के विरोधी हैं। अतः उन्होंने हिंदी की संस्कृति के अनुसार नये छन्द ढूँढ़ें।

छन्दों की समस्या तीन प्रकार से हल हुई—(१) ब्रजभाषा के कवित्त-सवैया आदि कुछ छन्दों का सफलतापूर्वक खड़ी बोली में प्रयोग हुआ। पद-शैली भी प्रयोग में आई, परन्तु वह अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी। गोपालशरण सिंह कवित्त-सवैयों में विशेष रूप से सफल हुए।

(२) लावनी इत्यादि लोक-गीतों के छन्दों का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ। यह खड़ी बोली के अपने छन्द थे और आधुनिक गीतिकाव्य में अधिकतः इन्हीं गीतों के संस्कृत रूपों का प्रयोग हुआ।

(३) छन्दशास्त्र के आधार पर एवं स्वतंत्र रूप से कुछ नये छन्द भी गढ़े गये। वास्तव में नये छन्द अधिक प्रचलित नहीं हुये। कवियों ने ब्रजभाषा के छन्दों, संस्कृत वार्णिक वृत्तों और लोकगीतों एवं उर्दू के छन्दों से ही संतोष किया। वास्तव में कोई बहुत बड़ा प्रतिभावान कवि द्विवेदी युग को नहीं मिला। जो थे, वे कवि से अधिक कवि-कर्मी थे। उन्होंने बड़े प्रयत्न से अपनी प्रतिभा को विकसित किया। फल यह हुआ कि कोई बड़ी क्रांति इन बीस वर्षों में दृष्टिगोचर नहीं होती। क्रांति का सूत्रपात 'छायावाद' के जन्म से १९०९ के लगभग हो चुका था, परन्तु १९२० तक यह क्रांति भी बहुत आगे नहीं बढ़ सकी थी।

संस्कृत वर्णवृत्तों के प्रयोग ने काव्य भाषा को एक बार फिर अस्त व्यस्त कर दिया। १६१० तक भाषा की यह अस्त-व्यस्तता भीषण रूप से व्याप्त थी। १६०१ में प्रकाशित द्विवेदी की 'कविता' शीर्षक कविता की दो पंक्तियाँ लीजिये—

सुरम्य रूपे रसराशि रंजिते, विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई।
अलौकिकानंद विधायिनी महाकवीन्दुकांते कविते अहो कहां

या १६०५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित सत्यशरण रतूड़ी की ये पंक्तियाँ—

मंदस्मितानन मनोहर फूलवाली, अत्यन्त रम्य नवपल्लव गात युक्त
बाला समान कुच कुडमल को छिपाये, देती
अहो कुमुदिनी निशि में प्रमोद

या चार वर्ष बाद मैथिलीशरण गुप्त की यह कविता—

त्योंही विद्रुम पद्मराग सम है बिम्बोष्ट शोभा भली
श्री संयुक्त सुवर्ण यह यों है ठीक रत्नावली
राजा के सुन बैन यों वह हुई रोमांचिता स्तंभिता
लज्जा संकुचिता प्रकम्पित तथा स्वेदांबु संशोभिता

यह स्पष्ट है कि इस वर्णवृत्त वाली कविता ने हिन्दी को सहस्रों-सहस्रों संस्कृत तत्सम शब्दों से भर दिया। आधुनिक हिन्दी काव्य में तत्समता इन्हीं पहले दस वर्षों में आई। बाद में पन्त और प्रसाद के काव्य में अनेक-अनेक संस्कृत शब्दों और पदावलियों का प्रयोग हुआ परन्तु उनकी संख्या इतनी नहीं थी। १६१० के बाद भाषा-संस्कार की ओर कवियों का ध्यान गया। इसी वर्ष मैथिलीशरण गुप्त की एक प्रौढ़ रचना जयद्रथ-वध (१६१२) सामने आई। अगले पन्द्रह वर्षों में यह कविता कितनी पुष्ट हो गई थी यह 'पंचवटी' (१६२५), 'अनघ' (१६२५), 'स्वदेश संगीत' (१६२५) जैसी रचनाओं के

अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। इस समय तक छायावाद की धारा भी एक युग समाप्त कर चुकी थी, परन्तु अभी उसके प्रतिनिधि कवियों की कुछ विशेष महत्वहीन रचनाएँ ही प्राप्त हुई थीं—प्रेमपथिक (१९१३), कानन-कुसुम (१९१३), उच्छ्वास (१९२२), अनामिका (१९१३)। अभी तक यह नया कवि-वर्ग अपना मार्ग ही खोज रहा था। वास्तव में आँसू (१९२६) के पहले के छायावाद काव्य और द्विवेदीयुग के काव्य में कोई विशेष अंतर नहीं दिखलाई पड़ता। विशेष अंतर बाद में हुआ। छायावाद काव्य के विकास का समय १९२६ से १९३६ तक आता है। इस समय में द्विवेदीयुग के कवि लिखते रहे और उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी समय आईं। परन्तु काव्य में जो नए उपकरणों का समावेश हो गया था, वही विशेष लोकप्रिय रहा।

मैथिलीशरण गुप्त का अधिकांश प्रौढ़ काव्य द्विवेदीयुग (१९००—२५) के बाद आता है, परन्तु उसमें जो प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं उनका जन्म द्विवेदीयुग में ही हुआ था। काव्य-कला, भाषा, छंद और शैली की दृष्टि से ये रचनाएँ द्विवेदीयुग के काव्य की परिणति ही हैं, कोई नई साहित्यधारा इनमें नहीं बँध सकी है। इसी से साकेत (१९३२), यशोधरा (१९३३), द्वापर (१९३६), और नहुष (१९४०) छायावाद काव्य से सम्बन्धित नहीं। वे द्विवेदीयुग के काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि केवल मैथिलीशरण गुप्त के विशाल काव्य का ही सम्यक् अध्ययन करके हम १९००—२५ की प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

२

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य : एक विश्लेषण

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सब से बड़े कवि हैं। वे हमारे प्रतिनिधि कवि भी हैं। जनता में पिछले चालीस वर्षों से जो नई भावनायें चल रही हैं, या अवसर-अवसर पर जाग्रत हुई हैं, उन्हें उन्होंने काव्य का शरीर दिया है। उनका साहित्य इतना विशद, इतना विभिन्न है कि सहसा आतंकित रह जाना पड़ता है। साधारण गद्यमय पद्य से लेकर सुन्दरतम काव्य तक उन्होंने लिखा है। कालक्रम के अनुसार उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं रंग में भंग (१६१०), जयद्रथवध (१६१०), भारत भारती (१६१२), पद्यप्रबन्ध (१६१२), तिलोत्तमा (१६१६) चंद्रहास (१६१६), किसान (१६१७), वैतालिक (१६१६), शकुन्तला (१६२३, चतुर्थ संस्करण), पत्रावली (१६२३, चतुर्थ-संस्करण), पंचवटी (१६२५), अनघ (१६२५), स्वदेश-संगीत (१६२५), हिंदू (१६२७), त्रिपथगा, वकसंहार, बन-वैभव और सैरिंध्री (१६२८), शक्ति (१६२८), गुरुकुल (१६२९), विकट भट (१६२६), झंकार (१६२६), साकेत (१६३२), यशोधरा (१६३३), मंगल-घट (१६३४), द्वापर (१६३६), सिद्धराज (१६३६), नहुष (१६४०) और कुणाल गीत (१६४२)। इन रचनाओं को हम विषय के अनुसार कई वर्गों में रख सकते हैं। इससे उनपर विचार करने में सरलता होगी—

(१) पौराणिक काव्य। महाभारत और पुराणों की कथाओं

को लेकर गुप्तजी ने हमें अनेक रचनाएँ दी हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है जयद्रथ वध, तिलोत्तमा, चंद्रहास, त्रिपथगा, शक्ति और नहुष।

(२) खंड काव्य और महाकाव्य। इनके अन्तर्गत पंचवटी, साकेत और द्वापर आते हैं। काव्य की दृष्टि से ये सब से प्रौढ़ रचनाएँ हैं।

(३) अन्य कथा-काव्य। साधारण कथा-काव्य की श्रेणी की कई रचनाएँ हैं जिनका मूलाधार इतिहास या जीवन-चरित्र है। रंग में भंग, अनघ, गुरुकुल, विकट भट, सिद्धराज और कुणालगीत इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

(४) चंपू इस श्रेणी की गद्य-पद्य-मय एक ही रचना है—यशोधरा।

(५) देश भक्तिपूर्वक काव्य। भारतभारती, स्वदेश संगीत किसान ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें कवि देशभक्ति से विशेष रूप में प्रभावित हुआ है।

(६) हिन्दू जातीयता। यों तो गुप्तजी की प्रत्येक रचना में हिन्दू जाति और धर्म को नये ढंग से गढ़ने का संदेश है, परन्तु 'हिन्दू' में वह इस दिशा में विशेष रूप से सतर्क हैं।

(७) मुक्तक। काव्यकला और साहित्य की दृष्टि से ये रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। मुक्तक रचनाएँ हैं पद्य-प्रबंध, वैतालिक, झङ्कार और मंगल घट।

(८) अनुवाद। स्वतंत्र अनुवाद के रूप में मैथिलीशरण गुप्त की अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। मेघनाद वध, पत्रावली और उमर खैयाम की रूबाइयों के अनुवाद महत्वपूर्ण हैं। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी युग की सारी प्रवृत्तियों को हम मैथिलीशरण गुप्त में एक जगह इकट्ठा पाते हैं और

वह भी विकसित रूप में। लगभग ४० वर्षों की काव्य-साधना का इतिहास इन काव्य-ग्रन्थों में सुरक्षित है।

१६वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य का इतिहास मूलतः खड़ी बोली के हिन्दी रूपके विकास और साहित्य में नये प्रयोगों का इतिहास है। नई जातीय और साहित्यिक संस्कृति उन पचास वर्षों में नहीं गढ़ी जा सकी। वह युग धार्मिक और सांस्कृतिक प्रचार का युग था, अतः उस युग के काव्य और साहित्य में प्रचार की मात्रा अधिक है, साहित्य की बहुत कम। बीसवीं शताब्दी में उन्नीसवीं शताब्दी के आन्दोलनों की परंपरा चलती रही। परन्तु इस समय साहित्य की ओर भी ध्यान गया। इस युग का सबसे बड़ा आन्दोलन हिंदू जातीयता के पुनरुत्थान और तत्संबन्धी समाज-सुधार का आंदोलन था। आर्यसमाज का आन्दोलन १८७५ में आरंभ हुआ और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में उसकी तीव्रता कम नहीं हो पाई थी। अपने घर के भीतर ही एक विरोधी आंदोलन उठता हुआ देखकर पहले तो हिंदू जनता क्षुब्ध हुई परन्तु शीघ्र ही उसने यह समझ लिया कि समय के अनुसार सुधार किये बिना किसी तरह की उन्नति संभव नहीं, अतः उसने समाज-सुधार को अपना अस्त्र बनाया। यह अवश्य है कि सनातनी इस क्षेत्र में उतने आगे नहीं बढ़ सकते थे, जितने आर्यसमाजी। परन्तु बढ़े वे अवश्य। वे अपनी प्राचीन धार्मिक एवं साहित्यिक निधि को एकदम अस्वीकार नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने उसकी नये ढङ्ग पर व्याख्या शुरू की। नये युग के वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में उन्होंने पुराण-कथाओं को जाँचा। जयद्रथवध, तिलोत्तमा, चन्द्रहास, त्रिपथगा, शक्ति और नहुष इसी नई व्याख्या को हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

गुप्तजी की पहली रचना 'रङ्ग में भङ्ग' (१९१०) है। इसमें

उन्होंने गेनोली-नरेश लालसिंह के अपमान और उसके फल स्वरूप दुःखांत-कांड को कथा का विषय बनाया है। 'प्रतिशोध'—इस एक शब्द में इस रचना का केन्द्र-भाव आ जाता है। प्रतिशोध की भावना ने भारतीय राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन को कितना दूषित कर दिया है, यह सब जानते हैं। अतः, मैथिलीशरण गुप्त का पहला ध्यान इसी की ओर गया। इस प्रारंभिक रचना के बाद वे हिंदू प्रेम के उन्नायक और हिंदू समाज के प्रबोधक के रूप में हमारे सामने आते हैं। भारत भारती (१६१२), हिन्दू (१६२७), गुरुकुल (१६२६), शक्ति (१६२८) और वैतालिक (१६१६) प्रमाण हैं। इन रचनाओं द्वारा उन्होंने आधुनिक हिन्दू समाज को नवजीवन की चुनौती स्वीकार करने को ललकारा।

परन्तु आधुनिक हिन्दू समाज का तरुण वर्ग क्या करे—यह प्रश्न सामने था। गुप्तजी ने समाज-सेवा की ओर इङ्गित किया। 'विकट भट' (१६२६) में वे एक बलवीर को हमारे सामने लाये और जयद्रथ वध (१६२०) में उन्होंने वीरव्रती अर्जुन के माध्यम से कर्तव्यनिष्ठा का संदेश दिया। 'अनघ' के 'मघ' और साकेत के लक्ष्मण आदर्श समाज-सेवक ही हैं। साकेत में शत्रुघ्न से भरत कहते हैं—

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में
सिंधुपार वह बिलख रही है व्याकुल मन में
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके
अपने मिथ्या भरत नाम को धारण करके
कलुषित कैसे शुद्ध सलिल को आज करूँ मैं
अनुज, मुझे रिपुरक्त चाहिए, डूब मरूँ मैं
मेटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा,
उठो इसी क्षण, शूर, करो सेना की सज्जा

स्वयं साकेत के राम भी जनसेवी हैं। साकेत का रामराज्य जन-राज्य ही तो है। रामचन्द्र कहते हैं—

बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष वानर से
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से
चल दण्डक बन में शीघ्र निवास करूँगा
निज तपोधनों के विघ्न विशेष हरूँगा
उच्चारित होती चले वेद की वाणी
गूँजे गिरि-कानन सिंधु पार, कल्याणी
अंबर में पावन होम धूम फहरावे
वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे
तत्वों का चिंतन करें स्वस्थ हो ज्ञानी
निर्विघ्न ध्यान में निरत रहे सब ध्यानी
आहुतियाँ पड़ती रहें अग्नि में क्रम से
उस तपस्त्याग की विजयवृद्धि हो हम से
मुनियों को दक्षिण देश आज दुर्गम है
बर्बर कौणप-गण वहाँ उग्र यम सम है
वह भौतिक मद से मत्त यथेच्छाचारी
मेंटूँगा उनकी कुगति कुमति मैं सारी

सच तो यह है कि भारत में इसी सांस्कृतिक स्वर्ग, इसी रामराज की कल्पना गुप्तजी की मूल प्रेरणा रही है। गुप्तजी हमारी राष्ट्रीयता के प्रथम उन्नायक हैं—प्रथम वैतालिक हैं। उनकी इस राष्ट्रीयता में हिन्दू जातीयता के सर्वश्रेष्ठ गुणों का भी समावेश हो गया है। वह एकांगी नहीं रही है।

परन्तु गुप्तजी की प्रतिभा कथानकों के सहारे ही विशेष रूप से विकसित हुई है। उनमें साहित्य-कला का हिम-चुम्बी गौरव-प्रासाद नहीं मिलेगा। आलोचकों ने बारबार गुप्तजी की

रचनाओं में साहित्यिक तत्त्वों की कमी की ओर संकेत किया है। भारतभारती (१६१२) की रचना के बाद उन्होंने अपनी कृतियों में साहित्यिक तत्त्वों के समावेश की ओर भी ध्यान दिया। फलतः साकेत, यशोधरा और झंकार में आदर्शोन्मुख समाजवादिता के साथ-साथ काव्य-कला के उच्च गुण भी मिलते हैं। सच तो यह है कि उच्च काव्य के दर्शन पंचवटी (१६२५) को छोड़कर प्रारम्भिक रचना में नहीं मिलते। 'जयद्रथ वध' वीर रसपूर्ण एवं करुणाप्रधान काव्य है, परन्तु उसमें भाषा-शैली का कोई चमत्कार नहीं मिलेगा। द्विवेदीयुग के अधिकांश में जो गद्यात्मकता है, जो इतिवृत्तात्मकता है, उससे छुटकारा पाना सरल काम नहीं था। इसके लिए बड़ी साधना की आवश्यकता थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी बंगला के प्रसिद्ध कवियों और काव्यों की ओर अपने मित्रों और पाठकों का ध्यान बराबर दिलाते रहते थे। कदाचित् उन्हीं की प्रेरणा से मैथिली बाबू इन बंगला काव्यों की ओर मुड़े और इनमें से कुछ का उन्होंने सफल अनुवाद उपस्थित किया। पलासी का युद्ध (नवीन-चंद्र सेन), मेघनाद वध (माइकल), वीरांगना (माइकल), विरहिणी व्रजांगना (माइकल) और चित्रांगदा (रवीन्द्रनाथ) उनके अनुवाद हैं। इन अनुवादों ने उनकी शैली पुष्ट की और उनकी परवर्ती कविताओं को साहित्यिकता दी।

परन्तु मैथिलीशरण गुप्त इतनी नई व्याख्या करके ही नहीं रह जाते। वे हिन्दूधर्म और हिन्दू जातीयता को नये आदर्शों के अनुसार गढ़ने का आदर्श सामने रखते हैं। 'हिन्दू' उनकी ऐसी ही कृति है जो उन्हें हिन्दू राष्ट्रीयता के उन्नायक के रूप में हमारे सामने उपस्थित करती है। गुप्त जी की रचनाएँ उनके हिन्दू-हृदय की उपज है जिनपर समसामयिक अनेक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा है। वे राष्ट्रीय उत्थान के प्रभात के कवि हैं। १६१६

ई० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन का जन्म हुआ। अहिंसा के सत्य को स्वीकार किया गया। इसने हमारे लेखकों का ध्यान बुद्ध और उनके समय की ओर फेरा। फलस्वरूप हमें 'अनघ' और 'यशोधरा' के दर्शन हुए। यह आंदोलन नैतिकता-प्रधान था, इसी से गुप्तजी की सभी कृतियों में चारित्रिक बल की शिक्षा दी गई है। हिन्दी कविता में राष्ट्र को पहलेपहल इन्हीं की कविता में स्थान मिला। 'भारत भारती' में कवि ने राष्ट्रीय शंखध्वनि की। उसने देशवासियों की वर्तमान हीन दशा पर आँसू बहाये और भविष्य के आशापूर्ण प्रभात की ओर इंगित किया। इसके बाद की रचनाओं में भी गुप्त जी का राष्ट्रीय संदेश हमें बराबर मिलता है। 'भारत भारती' की रचना करते समय गुप्तजी का ध्यान भारत के अतीत गौरव की ओर भी गया। राष्ट्र के उत्थान के लिए उसमें आत्मविश्वास पैदा करने की आवश्यकता होती है। उसे बताना होता है कि उसका भूत कितना उज्ज्वल था। यही गुप्तजी ने किया। उन्होंने अपनी कथावस्तु भारतीय इतिहास के ऐसे सभी अंशों से ली जो हिंदुत्व की रक्षा करते हुए अतीत का स्वर्ण चित्र हमारे सामने रखने में समर्थ थे। उनकी कवितामें हमें छः मुख्य दिशाये दिखलाई पड़ती हैं—(१) राष्ट्रीय (भारत भारती और फुटकर कविताओं में), (२) महाभारत सम्बन्धी (जयद्रथ वध, वक संहार, सैरन्ध्री और द्वापर में), (३) राम-सम्बन्धी (पंचवटी, साकेत आदि में), (४) बौद्धकालीन (अनघ, यशोधरा आदि में), (५) सिक्ख इत्यादि (गुरुकुल, सिद्धराज आदि में) और (६) पौराणिक (शकुन्तला, चंद्रहास और तिलोत्तमा में)।

पुराण कथाओं की नई व्याख्या तक ही नवीन हिन्दू संस्कृति को गढ़ने का प्रयत्न नहीं हो जाता। रामायण और महाभारत हिन्दुओं के दो विशिष्ट ग्रंथ हैं। सांस्कृतिक संकटों के

समय हिन्दू चेतना इन्हीं की ओर बारबार मुड़ी है। इसी से हिन्दू संस्कृति के नव निर्माण का स्वप्न देखनेवाला कोई भी कलाकार इन ग्रंथों को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता। परन्तु संस्कृति की दृष्टि से ही ये रचनाएँ महत्वपूर्ण नहीं हैं। साहित्य-कला की दृष्टि से भी ये अपरिमेय हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने इसके साहित्य की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। पंचवटी, साकेत और द्वापर वास्तव में कलात्मक कृतियाँ हैं। पंचवटी (१९२५) में पहली बार कला का उन्मेष दिखाई पड़ता है।

इसमें संदेह नहीं कि पंचवटी में हमें पहली बार गुप्तजी के प्रौढ़ कवित्व के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने लक्ष्मण के चरित्र को एक नूतन ढंग से देखा। पंचवटी में राम के आदर्श कुटुम्ब का जो रूप हमें मिलता है, वह हृदय को एकदम मुग्ध कर लेता है। उन्होंने प्रचलित काव्य में कुछ इस तरह के परिवर्तन किये जो चरित्र को विकसित और कथानक को नवीन दृष्टिकोण से सामने रखने में सहायक होते थे। यहीं पहले-पहल हमें प्रकृति का सुन्दर, समवेदनाशील मनोरम वर्णन मिलता है। वह पंचवटी की कथा का इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

चारुचंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में
श्वेत वसन सा बिछा हुआ है अवनि और अम्बरतल में
पुलक प्रगट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से
मानों झीम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से

जो नैसर्गिक, सरल, आह्लादक और प्रसादपूर्ण चित्र हमें मिलता है वह उस समय के हिन्दी काव्य में मिलना असंभव है। साकेत और द्वापर में हम इसी को विकसित रूप में देखते हैं। साकेत का एक प्रभात का चित्र देखिये—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ
किंतु समझो, रात का जाना हुआ

+ +

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे
देख लो, लोचनकुमुद झँपने लगे
वेष-भूषा साज ऊषा आ गई
मुख कमल पर मुस्कुराहट छा गई
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी
चेतना की अधिक आहट हो उठी
स्वप्न के जो रंग थे वे घुल उठे
प्राणियों के नेत्र कुछ-कुछ खुल उठे

+ +

सूर्य के रथ में अरुण हय जुत गये
लोक के घर-बार ज्यों लिप-पुत गये
सजग जगजीवन उठा विश्रांत हो
मरण जिसको देख जड़-सा भ्रांत हो
खुल गया प्राची दिशा का द्वार है
गगन-सागर में उठा क्या ज्वार है

'पंचवटी' में प्रकृति का सहज प्राकृत उल्लास है, परन्तु 'साकेत' में प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक गंभीर है। उसमें वह चञ्चल हास नहीं, वह दीप्ति नहीं। जो हो, यह निश्चय है कि गुप्तजी के काव्य में प्रौढ़ रूप हमें 'पंचवटी' में मिलता है और 'साकेत', 'द्वापर', 'यशोधरा' सरीखे महाकाव्यों की रचना के बाद भी आज 'पंचवटी' उसी तरह लोकप्रिय है। सच तो यह है कि इन महाकाव्यों में कवि स्वयं अधिक गंभीर हो गया है। उसने बड़े-बड़े क्षेत्रों में प्रयोग किये हैं और उसमें सहज वह

उल्लास नहीं है जो 'पंचवटी' में है। 'पञ्चवटी' गुप्तजी के काव्य की एक महत्वपूर्ण साहित्यिक दिशा है।

अब रह गई ऐतिहासिक और जातीय कथायें। ऐतिहासिक कथायें हैं रंग में भंग (१६१०), गुरुकुल (१६२६), विकट भट (१६२६), सिद्धराज (१६३६) और कुणाल (१९४२) है। इन ऐतिहासिक कथाओं में ऐतिहासिक कथा उतनी ही है जितनी काव्य के गौरव की रक्षा के लिए आवश्यक थी। कवि ने कल्पना द्वारा कथा के अनेक पक्षों की पुष्टि की है और उसे एक नितांत अभिनव रूप दे दिया है। 'रंग में भंग' और 'विकट भट' राजपूतों की गाथाओं से सम्बन्धित है—व्यक्तिगत वीरता और देशप्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति इन कथाओं में हुई है। 'विकट भट' में जोधपुर के एक राजपूत सरदार की तीन पीढ़ियों तक चलने वाली बात की टेक को लेकर एक अद्भुत पराक्रम-पूर्ण कथा गढ़ी गई है। 'गुरुकुल' में सिक्ख गुरुओं की ऐतिहासिक कथाएँ संग्रहीत हैं। 'सिद्धराज' एक मध्यकालीन वीर गाथा है। वैसे इन ऐतिहासिक कथाओं में इतिहास की ओर अधिक आग्रह नहीं, परन्तु सिद्धराज में कवि ने अनेक ऐतिहासिक आधारों की परीक्षा की है और फिर रसात्मकता का ध्यान रखकर अपनी कथा को गढ़ा है। वे 'निवेदन' में लिखते हैं—"पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक हैं। परन्तु उनका क्रम संदिग्ध है। इसलिए लेखक ने उसे अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है। जो अंश काल्पनिक हैं, वे आनुसंगिक हैं और उनसे ऐतिहासिकता में कोई बाधा नहीं आती। मैथिलीशरण गुप्त के सारे ऐतिहासिक काव्यों में सब से प्रौढ़ यही काव्य है। आरम्भ की कुछ पंक्तियों से ही यह स्पष्ट हो जाता है—

संध्या हो रही है। नील नभ में, शरद के शुभ्र घन तुल्य, हरे वन में, शिविर के स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का

अरुण अकाश पर झलक रहा है यों
झलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण ज्यों
फहर रहा है केतु उस पर। धीरे से
बन के व्यजन राजमंगल-कलश का
जिसमें न टूट पड़े कोई विघ्न-मक्षिका
भंग करने को रस-रंग कभी उसका
अश्विनी के ऊपर सुभव्य भाव भरणी
कृत्तिका-सी, वामियों के ऊपर चढ़ी हुई
वामाएँ अनेक, दीर्घ शूल लिये दाहिने
हाथ में, लगाम धरे बाँये हाथ में, कसे
क्षीण कटि-जटित विचित्र कटि-बंधों के
पीठ पर बाल छोड़ डाल के-से ढंग से
हेम शिरस्त्राण बाँधे, मोतियों की कलगी
जिनपर खेलती है स्वच्छगुच्छ लपिणी
कंचुक-कवच सब एक ही-से पहने
गहने—बेंदी, कर्णफूल, हार, किंकणी
कङ्कण करों में और नुपूर पदों में हैं
शौर्य-वीर्य-साहस की प्रतिमा सजीव-सी
मंदिर-समान उस सुन्दर शिविर की
करती है मंडल बना कर परिक्रमा

सच तो यह है कि इस कथाकाव्य में कवि ने उपन्यासकार के क्षेत्र को अपनाया है और मानव-हृदय के द्वन्द के अत्यंत विस्तृत चित्र दिये हैं। यही नहीं, जिस वस्तु का भी वर्णन कवि ने किया, उसे एक नवीन स्पंदन दे दिया है। हिन्दू घर के सहज स्वाभाविक प्रतिदिन के चित्रों के लिए तो गुप्तजी प्रसिद्ध ही हैं—

घर के निकट कुछ पेड़-पौधे रोपे थे
और बना ली थी एक वाटिका-सी उसने

गोड़ती थी, सींचती थी आप वह उसको
पानी खींचती थी नित्य प्रातःकाल कूप से
दायें और बायें घूम घूम झूम झूम के
आता लूम लेता हुआ पूर्ण घट नीचे से
पाती गहरे ' का रस वह गुण-शालिनी
राग बह जाता, स्वेद-भाग बह जाता था
यों व्यायाम और काम संग होते थे।

जहाँ यह चिर-परिचित निरालंकार चित्र है, वहाँ इस चित्र को भी देखिये—

रात हो चुकी थी, दीप दीपित था पौर में
काँपती शिखा-सी, लिये आँगन में रूपसी
रानक दे संकुचित और नत थी खड़ी
था खंगार संमुख सजीव एक चित्र-सा
देखती थी ऊपर अनन्त तारा-मंडली
द्वन्द जगती का यह, नीरव निरन्दिता

इतिहास, काव्य और कला का जैसा सुन्दर समन्वय सिद्धराज में हुआ है, वैसा अन्य स्थान पर दुर्लभ है। वास्तव में मैथिली-शरण गुप्त भारतीय राष्ट्रीय उत्थान के एक महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। उन्होंने वह काम किया जो पूर्ववर्ती कवियों ने स्पर्श-मात्र करके ही छोड़ दिया था। हिन्दू धर्म, जातीयता इतिहास और दर्शन को नया रूप देना, उनके स्वस्थ अंगों को पहचानना और उनसे बल प्राप्त करना, उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखना कोई सरल काम नहीं है। गुप्तजी ने इस क्षेत्र में जो किया वह कम नहीं है। रामायण, महाभारत, कृष्णकथा, पुराण, इतिहास—ये ही तो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। जो इन्हें आज के युग के अनुसार आधुनिकता प्रदान करता

है, वह बदली हुई परिस्थिति में हिन्दू संस्कृति को नया जीवन-दान देता है।

अहिंसात्मक आन्दोलनों ने बुद्ध और अशोक की ओर भी जनता का ध्यान खींचा था। इसी से प्रसाद और गुप्त को इन्हें अपना विषय बनाने की प्रेरणा हुई। अनघ (१९२५), यशोधरा (१९३२) और कुणालगीत (१९४२) इसी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक जिज्ञासा का फल है। परन्तु यशोधरा की ओर कवि का ध्यान साकेत (१९३२) की उर्मिला का चित्रण करते समय ही गया होगा। काव्य की उपेक्षिता नारियों के सम्बन्ध में बंगाली पत्रों में जो चर्चा हुई थी और रवीन्द्र ठाकुर ने जो लेख लिखे थे, उन्होंने भी उर्मिला, यशोधरा और महाश्वेता सदृश पात्रों की ओर इंगित किया था। आदर्श और शील की जो व्यंजना गुप्तजी की स्त्री-पात्रियों में हुई है, वह अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। यहां वह भारत की आत्मा को व्यक्त कर सके हैं। इन पंक्तियों में स्त्री की कितनी पूर्ण व्याख्या है-

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

यशोधरा के मुख-पत्र की ये पंक्तियां उनके सारे नारी-चरित्रों की पृष्ठभूमि का काम दे सकती हैं। उन्होंने काव्य की उपेक्षिताओं (उर्मिला और यशोधरा) के प्रति अपनी स्नेहासिक्त श्रद्धांजलियां अर्पित की हैं, मातृ-भावना प्रबल चित्र अभिशप्त कैकेयी के प्रबल प्रश्न को हमारे सामने रखा है, त्यागमयी कौशल्या के पावन चरणों की ओर इंगित किया है।

सच तो यह है कि आधुनिक कवियों में से इतनी विशद चित्रपटी और इतने पात्रों को लेकर अपनी लेखनी किसी ने नहीं चलाई। ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल के ऐतिह्य तक

लगभग ५००० वर्षों की उभरी-सँवरी रूप-रेखाएँ और जाने-पहचाने चित्र हमें इस चित्रपटी में मिलेंगे। रामकृष्ण से लेकर १९१९-२१ का किसान और १९४२-४६ का नवयुवक सत्याग्रही (अजित)—इतनी बड़ी चित्रपटी और किस कवि ने हमें दी है ?

जैसा हम पहले कह आये हैं बीसवीं शताब्दी हिन्दुओं के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण का युग है। 'भारत-भारती' (१९१२) लिखते समय मैथिलीशरण गुप्त अज्ञात रूप से हमारे पहले वैतालिक बन गये थे। परन्तु 'भारत-भारती' एक तरह से हाली के मुसद्दस का हिन्दी-रूपांतर था और इस रचना की विशेष प्रेरणा महावीरप्रसाद द्विवेदी से ही मिली थी। एक तरह से उन्हें ही जैसे हाथ पकड़ कर इसे लिखवाया। इसके बाद जो राष्ट्रीय आन्दोलन है उनका स्पष्ट प्रतिबिंब हमें गुप्तजी के काव्य में दिखलाई पड़ता है। किसान (१९१७), वैतालिक (१९१९), स्वदेश-संगीत (१९२५) और अजित (१९४३) उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। अजित तो कारागृह में ही लिखा गया और पहले उसका नाम 'कारा' ही रक्खा गया था।

राष्ट्रीय कवि गुप्त आर्य संस्कृति और वैष्णव धर्म के प्रेमी हैं। उनके सभी पात्र आदर्श हैं। वे हँसते-हँसते जीवन की कटुता को भूल जाते हैं। उन्हें निराशा का स्पर्श नहीं होता क्योंकि गुप्तजी जैसा ईश्वर-विश्वासी कवि निराशावादी हो ही नहीं सकता। उनके हृदय का विश्वास उनके पात्रों को विपरीत परिस्थितियों में भी दृढ़ रहता है। वे मानव-चरित्र के दिव्य गुणों के उपासक हैं। उनके 'साकेत' के राम इतने मानव हैं कि उनका रामोपासक हृदय प्रश्न ही कर बैठता है—'राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि युग की विभिन्न धाराओं के चित्र हमें गुप्तजी की रचनाओं में मिलते हैं। उन्होंने भारत के अधिक

से अधिक हृदयों की बात कही है और इसी से वे युग के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं। पश्चिमी विचारों का इतना आयात होने पर भी हमारा देश मूल रूप में कुछ भी बदला नहीं है। उसका हृदय आज भी त्याग, अहिंसा, तप, शम आदि नैतिक आदर्शों के लिए भूखा रहता है। भारत की इस सीधी-सादी, सरल प्रकृति के दर्शन हमें गुप्तजी की रचनाओं में मिलते हैं।

इन रचनाओं के अतिरिक्त गुप्तजी की केवल दो महत्वपूर्ण रचनाएं रह जाती है। कला की दृष्टि से तो इनका महत्वपूर्ण स्थान है ही, उनकी एक महत्ता यह है कि इनमें कवि ने छायावाद काव्य-धारा के विषयों और उसी की शैली को ग्रहण किया है। झंकार (१९२९) और मंगलघट (१९३४) द्विवेदी युग की परम्परा से हटकर नई काव्य धारा से अपना सम्बंध स्थापित करते हैं। वैसे १९२९ के बाद की शायद ही कोई रचना हो जिस पर छायावाद का प्रभाव न पड़ा हो, परन्तु यह रचनाएं छायावाद की भूमि को ग्रहण करके ही आगे बढ़ती हैं। हिंदी कविता में रहस्यवादी परोक्षानुभूति के पहले दर्शन प्रसाद की प्रारंभिक कविताओं (१९०९-१३) और 'साधना' (१९१६) में होते हैं। 'साधना' के गद्य-गीतों ने एक विशेष गद्य—परंपरा ही प्रतिष्ठित कर दी। १९२६-३० तक छायावाद का काफी काव्य सामने आ चुका था और उसकी मूर्तिमत्ता, रहस्यवादिता और नई अभिव्यञ्जना शैली से प्रभावित हुए बिना रह जाना असंभव था। झंकार (१९२९) और 'साधना' के अनेक गीतों की तुलना की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि कवि अपनी केन्द्रीय विचार-धारा से हट कर एक नई श्रेणी की चीज दे रहा है। इसमें उसके हृदय का उतना मेल नहीं जितना बुद्धि का। फलतः, इन संग्रहों के गीत हमें उस तरह विचलित नहीं कर पाते जैसे छायावादी कवियों की कविताएं या रायकृष्णदास के गद्य-गीत। राम-रहीम

और निर्गुण-सगुण के बीच पटरी बिठाने की चेष्टा में बहुत कुछ स्पष्टता और स्वाभाविकता हाथ से चली जाती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्येता के लिए यह सामग्री महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। इसमें नई (छायावाद) कविता की धारा का बल ही घोषित होगा, परन्तु स्वतः बहुत क्या रचनायें ऐसी हैं जो साहित्य की अमर वस्तु रहेंगी।

मैथिलीशरण गुप्त की ढ़ाई दर्जन के लगभग रचनाओं के इस विश्लेषण के बाद हमें यही कहना है कि इनके काव्य में हम लगभग अर्द्ध शताब्दी के लंबे काल को प्रतिबिंबित देख पाते हैं। १६ वीं शताब्दी के निराशापूर्ण गद्यात्मक काव्य के बीच में गुप्तजी का अदम्य आशावादी स्वर पहले चाहे विवादी स्वर लगा हो, परन्तु कालांतर में इसने हिन्दी जगत का हृदय मोह लिया। देश के इतने बड़े संस्कृति की दृष्टि से इतना पीछे पड़े भाग को उन्होंने उत्साह दिया, बलिदान की प्रेरणा दी, जीने की स्फूर्ति दी। 'नर हो, न निराश करो मन को' जैसे वैतालिकों को गा-गाकर लोग जेल गये। जेल में भी 'भारत-भारती' का स्वर कुंठित नहीं हुआ। जहाँ-तहाँ मंडली बना बना कर जेल के वार्डरों को चैलेंज देते हुए असहयोगी नवयुवक गाते थे—

मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती

चालीस वर्षों तक जिस कवि का कंठस्वर दुःख और निराशा से कुंठित नहीं हुआ, जिसने अपनी वैष्णव भक्ति को दूसरों के ऊपर लादा नहीं, परन्तु उस से प्राण-रस पाकर जिसने जनता को जीने के लिए अमृत दिया, जिसने व्यक्तिगत निराशा के स्वरों के ऊपर आशा की वीणा-वाणी हमें दी, वह क्या इसी लिए बड़ा नहीं है? 'केवल साहित्य', केवल कला के नाम पर

यदि उसने कुछ नहीं लिखा, तो 'केवल साहित्य', 'केवल कला' के नाम-पर प्रेमचन्द ने भी कुछ नहीं लिखा। महान लेखक शब्दों, छन्दों और मूर्त्त-अमूर्त्त चित्रों का खिलवाड़ नहीं करते। वे जनता को नहीं जीवनशक्ति देते हैं, वे जनता की सामान्य मान्यताओं को परिष्कृत एवं संस्कृत करते हैं और उन्हें नये मूल्य देकर जनता को ऊपर उठाते हैं। उनकी रचना में साहित्य कम है, या अधिक, इसकी चिंता उन्हें व्याकुल नहीं करती।

गुप्तजी ने जिस समय कविता करना प्रारंभ किया उस समय तक खड़ी बोली का भविष्य निश्चित नहीं हुआ था। रत्नाकर, शंकर, सत्य नारायण आदि कितने ही कवि ब्रजभाषा में लिख रहे थे और उनका विश्वास था कि वही काव्य की मान्य-भाषा हो सकती थी। खड़ी बोली में जो थोड़ी-बहुत कविता हुई भी थी, वह केवल प्रयोग की दृष्टि से। उसमें नीति के उपदेश भले ही हों, परन्तु पाठक की आत्मा को स्पर्श करने वाले रसपूर्ण स्थल कम थे। सौभाग्य-वश इसी समय गुप्तजी का प्रवेश हुआ। वे आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपर्क में आये और उन्होंने हिन्दी काव्य को एक नई दिशा दी। अब तो काव्य क्षेत्र में खड़ी बोली का ही एकाधिकार है, नए-नए भावों की व्यंजना के लिए नए-नए ढंगों का प्रयोग हो रहा है परन्तु काव्य-भाषा के इस दशा तक पहुँचने के लिए जो शक्ति अपेक्षित थी, उसके उत्पन्न करने का श्रेय गुप्तजी को ही था। जिस दिन श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती की पहली पंक्तियां लिखीं उस दिन खड़ी बोली हिन्दी की भारती ने केवल एक नई दिशा ही नहीं ग्रहण की वरन उस नवीन राष्ट्रवाणी को जन्म दिया जो आज देश के कंठ में एक नवीन शक्ति और नया उल्लास भर रही है। आज कवि की कामना फलीभूत हुई है। उसकी भारती घर-घर गूँज रही है।

३

प्रारम्भिक काव्य

मैथिलीशरण गुप्त का प्रारंभिक काव्य 'सरस्वती' में प्रकाशित उन चित्रों पर लिखी कविताओं के रूप में है जो पौराणिक कथाओं और व्यक्तियों से संबन्ध रखती थीं और जिनके प्रति द्विवेदीजी को विशेष मोह था। उनकी पहले दस वर्षों की कविताएं 'सरस्वती' के पृष्ठों में मिलेंगी और उनके काव्य के अध्ययन के लिये उनका विवेचन आवश्यक है। इन प्रारंभिक कविताओं का साहित्यिक महत्व कुछ भी नहीं है। वे आज तुकबंदी मात्र हैं। संभवतः हिन्दी के किसी प्रचलित छंद में अत्यंत नीरस, तथ्य-प्रधान चार पंक्तियों खड़ा कर देना कोई कठिन काम नहीं, परन्तु उन दिनों यही कवि-कर्म था। वास्तव में खड़ी बोली कविता को आरंभ हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। १८८४ ई० में 'भारतेन्दु' ने पत्रों में अपनी कुछ खड़ी बोली की कविताएं प्रकाशित कराईं थीं, परन्तु वे उनसे संतुष्ट नहीं थे। उनकी कविताओं में साहित्यिकता की मात्रा भी अधिक नहीं थी। परन्तु इसी समय के लगभग अन्य कवियों ने भी खड़ी बोली का प्रयोग किया। वास्तव में खड़ी बोली काव्य के पहले प्रवर्तकों का आदर्श खड़ी बोली की लावनियां थीं। १८८६ ई० के एक लावनी संग्रह (लावनी बनारसीदास, अहमदी प्रेस आगरा, सन् १८८६) में प्रकाशित कुछ लावनियों से जनता में प्रचलित खड़ी बोली का परिचय मिलता है—

द्रौपदी विपति में करुणानिधि को टेरी
पति चले विपति में नाथ रखो पति मेरी
यह दुर्योधन पापी ने भला क्या कीना
करि कपट से मेरे पाँचों पति को जीता
सब राजपाट हर लिया मुझे हर लीना
श्री कृष्ण तुम्हारी कहाँ गई वो गीता
क्यों मेरे काज को लगाई तुमने देरी
पति चले विपति में नाथ रखो पति मेरी

(बनारसी)

तन मंदिल के बीच निरख क्या रंगबिरंगी मूरत है
तनक परख हृदय से तू इस मूरत की क्या सूरत है
माया मोह के बस में तू क्यों नाहक जन्म खोवाता है
वृथा वाद-विवाद में पड़कर सतगुरु को नहिँ पाता है
निंदा अस्तुति कर करके क्यों गैरों को बहकाता है
इसी तरह में भजन कर अपना उम्दा वक्त गँवाता है
राम भजन में चौकस रह जो मुक्ति की तुझे ज़रूरत है
तनक परख०

(लल्लाराम)

हूँ कर्म के फँदे फँसा सुधारा कर दे
गङ्गा अपने गणों में प्यारा कर दे
यह काम क्रोध लोभ से किनारा कर दे
छवि दिखाके छलबल से छुटकारा कर दे
भवसागर से भागती सुधारा कर दे
श्री गङ्गा बेड़ा पार हमारा कर दे

(महादेव सिंह)

उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों को खड़ी बोली काव्य की इस जन-परंपरा को लेकर अपने काव्य की नींव डालनी पड़ी। उद्दरो-

नारायण चौधरी ने खड़ी बोली में कजलियाँ लिखीं, अंबिकादत्त में व्यास ने कवित्त लिखे, हरिश्चन्द्र और प्रताप नारायण मिश्र ने प्रयोगात्मक कविताएं लिखी। साहित्य की दृष्टि से वे विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु उनका महत्व ऐतिहासिक है—

सांझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है
हम सब इक दिन उड़ जाएंगे यह दिन चार बसेरा है
आठ बेर नौबत बज बजकर मुझको याद दिलाती है
जाग जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी आती है
(हरिश्चंद)

जब से देखा प्रियवर मुखचद्र तुम्हारा
संसार तुच्छ जँचता है हमको सारा
इच्छा रहती है नित्य ये शोभा देखें
लावण्य मयी की यह दिव्य मधुरता देखें
यह भाव अलौकिक भोले पन का देखें
इस छवि के आगे भला और क्या देखें
आहा यह अनुपम रूप जगत में न्यारा
संसार तुच्छ जँचता है मुझको सारा

परन्तु यही कुछ कवि खड़ी बोली में कविता नहीं लिख रहे थे, अन्य कवि भी इस भाषा का प्रयोग कर रहे थे। यह अवश्य है कि उनकी कविता में भी साहित्यिकता की मात्रा अधिक नहीं थी, परन्तु वह निश्चय ही साहित्यिकता की ओर बढ़ रही थी—

उठो अब नींद को त्यागो
बहुत सोए हो अब जागो
मेरी यह बात मानो तुम
दशा भारत की जानो तुम

सुधारो नीति-रीतों को
उठाओ सब कुरीतों को
करो कुछ देश का उपकार
कि दुखसागर में होवें पार

(पं० भवदेव,'शुभचिंतक', खंड १, नंबर ५, १८८४)

यह भूमि भारती, अब क्या पुकारती
इसके ही हाथ में तो हुई इसकी दुर्गती
होते हैं पाप घोर लाखों अरब करोर
सब शोर करते हैं पच-पच के मरते हैं

(पं० श्रीधर पाठक, हिन्दी प्रदीप, खंड ८, नंबर ५)

१६ वीं शताब्दी की ये सब में प्रौढ़ खड़ी बोली कविताएं हैं। अतः स्पष्ट है कि इस समय तक खड़ी बोली कविता में साहित्यिकता का प्रयोग अधिक मात्रा में नहीं हो पाया था। उसमें न भाषा का प्रौढ़ विकास था, न छन्द-सौष्ठव था, न कलात्मकता अथवा संगीतमयता। मैथिलीशरण गुप्त से पहले खड़ी बोली कविता का कुछ सुन्दर प्रयोग केवल श्रीधर पाठक ने ही किया है। १६०० ई० से १६१० तक खड़ी बोली काव्य का प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ। इन प्रयोगकर्ताओं में मैथिली शरण गुप्त भी थे। कुछ कविताओं के उद्धरणों में इस समय के काव्य सम्बन्धी विकास पर प्रकाश पड़ेगा—

स्नेहागार उदार प्रकृति भर्तार विनय के पारावार
प्राणाधार शरद राका के नटक चंद्रिका के सुखसार
पूर्णकाम सुखधाम अवम-आराम राम हे जनविश्राम
श्याम गरिम गुणग्राम पुन्यमय नाम अवाम अनूप

(किशोरीलाल गोस्वामी, १९००)

सुरम्य रूपे रसराशि रंजिते, विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई
अलौकिकानन्द विधायिनी महा कवीन्द्रकांते कविते अहो कहाँ
(महावीरप्रसाद द्विवेदी, १६०१)

मनोहारी शय्या परम सुथरी भूमि थल की
सुहाती क्या ही है ललित बन के दूब दल से
सुहाते वृक्षों की अति पंक्ति-प्रवर से
लता प्यारी-प्यारी निरखि अनोखी तरह से
(सत्य शरण रतूड़ी, १६०४)

हा हा असह्य यह दुःख सहा न जाता
प्राखर्य से बहुत ही सब को सताता
आया प्रचंड यह ज्ञात नहीं कहाँ से
क्या दण्ड यह है मिला विधि के यहाँ से
क्या हैं कुपित हुए मन्मथ-भस्मकारी
भालस्थ आँख अपनी सहसा उघारी
(सनातनशर्मा सकलानी, १६०५)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १९०५ ई० तक भाषा को कोई भी सुधरा हुआ रूप सामने उपस्थित नहीं था। संस्कृत वृत्तों का प्रयोग किया जाता। तत्सम शब्दों की प्रधानता थी और काव्यत्मक कही जाने वाली किसी भी वस्तु का लोप था। १६०६ ई० में लगभग यही स्थिति है जब हम मैथिलीशरण गुप्त को कविता के क्षेत्र में पूर्ण शक्ति के साथ उतरता पाते हैं—

त्यों ही विद्रुम पद्मराग सम है बिंबोष्ठ-शोभा भली
श्री संयुक्त सुवर्ण यह यों है ठीक रत्नावली
राजा के सुन बैन यों वह हुई रोमाञ्चिता स्तंभिता
लज्जा संकुचिता प्रकंपित तथा स्वेदांबुसंशोभिता
(सरस्वती, खंड ५, सं० ६, १९०६)

परंतु यह हर्ष का विषय है कि इसी समय के लगभग उन्होंने संस्कृत वृत्तों में कविता लिखनी छोड़ दी और प्रवाहमयी सरस भाषा का आश्रय ग्रहण किया। वास्तव में अब भी वे द्विवेदीजी का ही नेतृत्व स्वीकार कर रहे थे। द्विवेदीजी की संस्कृत-वृत्तात्मक शैली असफल रही, इसलिए गुप्तजी उनकी एक दूसरी शैली की ओर मुड़े। इस शैली की प्रौढ़तम रचना 'कुमारसंभव' का हिन्दी अनुवाद (१६०४) था। इसमें उन्होंने प्रसिद्ध हरिगीतिका छंद का प्रयोग था। काव्यात्मकता भी इसमें उच्च भाग की थी। अपनी लगभग सभी प्रारंभिक कविताओं में मैथिलीशरण गुप्त ने इसी छंद का प्रयोग किया है और भाषा में अधिक से अधिक साहित्यिकता लाने की चेष्टा की है। परन्तु शोक की बात यह है कि उन्होंने आचार्य द्विवेदी की सब से क्रांतिकारी नवीन शैली का अनुकरण नहीं किया—

यदि कोई पीड़ित होता है
उसे देखकर घर रोता है
देश-दशा पर प्यारे भाई
आई कितनी बार रुलाई
थोड़ा भी श्रम यदपि उठाते
जन्मभूमि को तुम न भुलाते
तो अब तक निहाल हो जाती
शोभामयी दिव्य दिखलाती

(जन्मभूमि, मार्च १६०३)

कच्चा घर जो छोटा-सा था
पक्के महलों से अच्छा था
पेड़ नीम का दरवाज़े पर
सायवान से था वह बहतर

आँख-मिचौनी की वे बात
खेल-कूद के दिन औ' रातें
हाय कहाँ हैं, हाय कहाँ हैं
कहाँ मिलें जो ढूँढा चाहें
(प्यारा वतन)

यह स्पष्ट है कि इस शैली में रसात्मकता का विकास पूरी तरह से हो सकता था। परन्तु यह शैली उस समय के कवियों द्वारा उपेक्षित रही। उसका कोई भी प्रभाव हम उस समय के काव्य पर नहीं देखते।

मैथिलीशरण गुप्त के १९१० ई० से पहले के काव्य को हम प्रयोगात्मक काव्य कह सकते हैं। काव्य-क्षेत्र में उनकी पहली महत्वपूर्ण रचना 'रंग में भंग' (१९१०) है। इसके मंगलाचरण के छन्द को देखिये—

लोकशिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया
निर्विकार निरीह होकर नरसदृश कौतुक किया
रामनाम ललाम जिसका सर्व मङ्गल धाम है
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है

"रंग में भंग' में हाड़ा कुंभ चित्तौड़ में बूँदी के नकली क़िले की रक्षा के लिए मेवाड़ के राना की बहुत बड़ी सेना से अकेले लड़ने लगते हैं और इस असम्भव युद्ध में लड़ते-लड़ते वीर गति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निश्चय मृत्यु का आलिंगन करना बहुत बड़ी मूर्खता है, वे अपनी प्राण-रक्षा करके बूँदी के असली किले की रक्षा में पर्याप्त सहायता दे सकते थे। परन्तु इस प्रकार की मूर्खता भी राजपूतों को ही शोभा देती है जो अपनी आन पर मिटने वाले हैं। शांतिपूर्वक विचार करने पर कोई भी हाड़ा कुंभ के इस त्याग को महान् त्याग नहीं कहेगा, परन्तु जब वे प्रभावशाली शब्दों में कहते हैं—

तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु-मूर्ति को जड़ जान के
भ्रात जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से
देखते भगवान को श्रीमान् उसमें ध्यान से
है न कुछ चित्तौड़ यह बूँदी इसे अब मानिए
मातृभूमि पवित्र मेरी पूज्यनीया जानिए

तब ये शब्द आकाश-वाणी की तरह पवित्र और स्वर्गीय जान पड़ते हैं। अपने विश्वास के लिए प्राण दे देना सर्वदा महान है चाहे वह विश्वास कितना ही तुच्छ और भ्रांतिपूर्ण क्यों न हो! (आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६-४८)। जयद्रथ बध में हम पहली बार साहित्यिक उन्मेष पाते है। यद्यपि एक सी प्रकार के छन्द के बराबर प्रयोग करने से इस काव्य में समरसता आ गई है, परन्तु फिर भी वीर रस की अनेक धार्मिक परिस्थितियों और उत्तरा के प्रसंग में करुण विप्रलंभ को वह भली भाँति प्रगट कर सका है। उपमाओं और अन्य अलंकारों के माध्यम से सौन्दर्य और रस के निरूपण की एक शैली, हमारे यहाँ बहुत पहले से प्रचलित थी। जयद्रथ बध में इसी शैली का कलापूर्ण प्रयोग हुआ है। यथा :

टंकार ही निर्घोष था, शरवृष्टि ही जल-वृष्टि थी
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युद्-दृष्टि थी
गांडीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था
उस काल अर्जुन वीरवर अद्भुत जलद गम्भीर था

वास्तव में इस ग्रन्थ में पहली बार शुद्ध, सरल और साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ। छंद भी शुद्ध और गतिपूर्ण था। इसी कारण इस ग्रन्थ ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। 'जयद्रथ-बध' में मैथिलीशरण गुप्त ने परंपरागत प्रचलित काव्य-रूप में अपनी मौलिक प्रतिभा का सम्मिश्रण कर एक

अपूर्व काव्य की रचना की। उन्होंने 'रामचरितमानस' में प्रयुक्त हरिगीतिका छंद को सरल, साहित्यिक और ओजपूर्ण खड़ी बोली में सलफतापूर्वक ढाल दिया। कथानक के लिए उन्होंने महाभारत का एक बहुत ही प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रसंग लिया। फिर युद्ध भूमि का चित्रमय चित्रण, करुणा रस का अबाध प्रवाह और भक्तिभावना की सुन्दर व्यंजना ने पाठकों का हृदय मोह लिया और पंद्रह वर्ष के भीतर ही इसके चौदह संस्करण प्रकाशित हुए। परन्तु इसका सब से महत्वपूर्ण अंग इसकी भाषा थी जो साहित्यिक होती हुई भी अद्भुत गतिपूर्ण और लय संयुक्त थी। उदाहरण स्वरूप एक छंद लीजिए;

रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य बल-ही सब कहीं
जल कर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी
अच्युत ! युधिष्ठिर आदि का अब भार हो तुम पर सभी

इसी काव्य में पहली बार कवि का प्रबंध कौशल दिखलाई पड़ता है। यद्यपि कला की दृष्टि से इस समय के काव्यों में 'पंचवटी' सब से महत्वपूर्ण है। उसके प्रसंगों में नाटकीयता का समावेश किया गया है और उसका चरित्रचित्रण एक विशेष प्रकार की शक्ति लिए है। प्राकृतिक वैभव के चित्र तो पहली बार इसी काव्य में मिलते हैं। गुप्तजी के काव्य में प्रकृति का स्वच्छंद क्रीड़ा-विलास अधिक नहीं है, परन्तु पंचवटी में फिर भी प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र मिलते हैं। काव्य के प्रारंभ में ज्योत्स्नामयी विशिष्ट का सुन्दर चित्रण है। इस सुन्दर, मोहक प्रकृति की पृष्ठभूमि में कवि ने वीर यती लक्ष्मण को उपस्थित किया है—

जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है!
भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टि गत होता है।

इसके बाद स्वयम् लक्ष्मण के उद्गारों में हमें उनके मानस का बड़ा सुन्दर चित्र मिल जाता है। कवि को साकेत-वासिनी विरहिणी उर्मिला का ध्यान यहाँ भी नहीं भूला है। पंचवटी की उस ज्योत्स्नामयी रात में तापस लक्ष्मण का मन भी डिग जाता है। उसी समय शूर्पनखा सुन्दरी के भेष में सामने आती है। इस समय हमें एक अत्यंत प्रौढ़ चित्र में कला का सँवारा-सुधारा रूप प्राप्त होता है—

कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बाया हाथ
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल लहरों के साथ
दायां हाथ लिए था सुरभित चित्र-विचित्र सुमन-माला
टांगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला

लक्ष्मण-शूर्पणखा में वार्तालाप हो रहा था कि सीता ने प्रवेश किया।

उसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति नटी का रंग
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटा दिवा के दमके अंग
कुछ कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी
पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!
अहा! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी
अवनी की ऊषा सजीव थी अम्बर की-सी मूर्ति न थी

इस प्रकार के सहज-स्वाभाविक चित्रण हिन्दी खड़ी बोली काव्य में पहिले नहीं थे, जो थे उनकी संख्या इनी गिनी थी। गुप्त जी के काव्य में पहिली बार खड़ी बोली ने अपनी भाषागत प्रौढ़ता का परिचय दिया और अपनी इस शक्ति का व्यापक क्षेत्र में प्रयोग किया।

१९१२ में मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती प्रकाशित हुई और शीघ्र ही वह जनता के हृदय का कंठहार हो गई। इस कविता में कवि ने देश की दुर्दशा का बड़ा व्यापक चित्रण किया था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा',

जैसे नाटक में देश की दुर्दशा को साहित्य का बिषय बनाया था। गुप्त जी की (भारत-भारती) इन्हीं गद्य-रचनाओं की परंपरा में आती हैं। इसमें मुसद्दसहाली के ढंगपर भारतीयों की या हिन्दुओं की भूत और वर्तमान दशा की विषमता दिखाई गई है, भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली रसात्मक चित्रण या वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीचबीच में धार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ़ और सीधी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसमें हिन्दी कविता के लिये खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध करदी, (हिन्दीसाहित्य का इतिहास, पं०रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५४०)। इस सारे काल(१९१०-२५) में देश राजनीति के क्षेत्र में विशेष रूप से उद्योगशील होरहा था। अतः गुप्तजी को देश भक्तिपूर्ण बीसियों कविताएं लिखने की प्रेरणा मिली और इन्हीं देशप्रेम की कविताओं ने उन्हें जनता के हृदय तक पहुँचाया।

परन्तु केवल अतीत के गौरव-स्वप्न के टूटने पर रोना ही काफ़ी नहीं था। अतीत गौरव के प्रभावशाली चित्र भी देना उपादेय था। इसी से हम इस युग में भी गुप्त जी को महाभारत और रामायण के पृष्ठ उलट कर प्राचीन गौरव गाथाओं के काव्य का बिषय बनाता पाते हैं। 'किसान' शीर्षक से उन्होंने एक सामान्य किसान का चित्र भी खींचा, जो पहिले महायुद्ध की पृष्ठभूमि में और भी महत्वपूर्ण बन जाता है। उन्होंने मधुसूदन दत्त (माइकेल) के कई काव्यों का हिन्दी पद्य में अनुवाद किया और अपनी भविष्य की जनप्रिय शैलियों का निर्माण किया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस प्रयोग-कालीन काव्य में भी बहुत-कुछ साहित्य-रसिकों को सदैव प्रिय रहेगा।

४

प्रौढ़ रचनाएँ : हिन्दू जातीयता का काव्य

(१९२५—२६)

१९२५ ई० के बाद हम मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में विशेष रूप से प्रौढ़ता के दर्शन पाते हैं और उन्हें हिन्दू जातीयता के उन्नायक के रूप में देखते हैं। पंचवटी (१९२५), अनघ (१९२५), हिन्दू (१९२७), त्रिपथगा (बकसंहार), वन-वैभव, सैरन्ध्री (१९२८), शक्ति (१९२८), गुरुकुल (१९२९) और विकट भट (१९२९) ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें हमें उनके इस रूप का परिचय प्राप्त होता है। शुद्ध राष्ट्रीयता संबंधी कुछ गीत 'स्वदेश संगीत' (१९२५) में अवश्य संग्रहीत हैं, परंतु इस समय गुप्तजी की मुख्य प्रवृत्ति राष्ट्रीयता नहीं है। वह व्यापक रूप से सांस्कृतिक उत्थान का संदेश सुनाते दिखलाई पड़ते हैं।

आधुनिक युग में हिंदू जातीयता के जन्म और विकास की अपनी ही कहानी है। उसे जानकर ही हम गुप्तजी के जातीय काव्य की पृष्ठभूमि से भली भाँति परिचित हो सकेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में समाज में एक नई क्रांति होने लगी थी। अब तक हमारे समाज में अमीर-उमरावों का महत्व था। सत्ता सामन्तवादी थी। अब अमीर-उमरावों का महत्व कम होने लगा और समाज-व्यवस्था तथा राजनीति में व्यापारी वर्ग को विशेष महत्व मिलने लगा। जिस ब्रिटिश राष्ट्र से हम संबंध-

सूत्र में बँधे वह एक व्यापारी राष्ट्र था और जिस अंग्रेज संस्कृति से हमारा परिचय हुआ, वह एक व्यापारी संस्कृति थी। ब्रिटिश शासन में उत्कर्ष पाने वाला यह नया व्यापारी वर्ग और सुरक्षित वर्ग अंग्रेजों का गुण गान करने में और लोगों को इस बात का क़ायल करने मे लगा कि ब्रिटिश राज्य ईश्वर का प्रसाद है। इस समाज ने अपनी उन्नति में बाधक विदेश यात्रा-निषेध आदि सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के खिलाफ बग़ावत करने में अपने को धन्य माना। धीरे धीरे सुशिक्षित मध्यवर्ग पुराने सामाजिक और धार्मिक बंधनों को तोड़ने लगा। जब बहुत दिन के बाद वह राजनीति की ओर मुड़ा तो उसने देखा, देशी व्यापारियों के हाथ से व्यापार निकल कर विदेशियों के हाथ में चला गया है, उद्योग-धंधे नष्ट हो गये हैं, राजसत्ता उनके हाथ में नहीं है, अकाल और मँहगी का राज्य है।

परिस्थिति की इस विडंबना ने राष्ट्रभावना को जन्म दिया परन्तु इस राष्ट्रभावना का जन्म एक दिन में नहीं हो गया। विदेशी शिक्षा से प्रभावित हो नास्तिकता और पाखंड की ऐसी लहर उठी कि उसने, जैसा कि कितने ही लोग कहते हैं, शीघ्र ही सारे देश में फैल कर हिन्दू धर्म को जड़ से उखाड़ फेंक दिया होता। परंतु राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द, श्रद्धाराम फुल्लौरी, नवीनचंद्र राय और देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसी शक्तियों ने इस नास्तिकता और पाखंड-वाद की धारा का विरोध किया। साथ ही वे एकदम पुरातन-वादी नहीं बने। १८६७ ई० में आचार्य डा० भण्डारकर और रानाडे ने बम्बई में, प्रार्थना-समाज की स्थापना की। भारतेन्दु ने 'तदीय समाज' की नींव डाली। ब्रह्म समाज, आर्य समाज और नवीन भक्ति आन्दोलनों का हिंदी प्रदेश पर गहरा प्रभाव पड़ा। ईसाई धर्म से लोहा लेना जनता की श्रद्धा की वस्तु बन

गया। १८६६ ई० में केशवचंद्र सेन ने ब्रह्म समाज की नई शाखा स्थापित की और १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज। हिंदू चेतना को झकझोरने में इन दोनों संस्थाओं का प्रधान हाथ रहा है और ये हमारी कृतज्ञता की पात्र हैं।

१८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना के साथ सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता की नींव पड़ी, परंतु राष्ट्रीयता की भावना ने सभी प्रगतिशील शक्तियों को आगे बढ़ाया। भारतीय इतिहास की यह अत्यंत आश्चर्यपूर्ण घटना है कि राजनीतिक परिवर्तन सदा धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का अनुगामी रहा है। जैसी घटना मरहठा-संघ के स्थापित होने के पहिले घटी वैसी ही उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में। हिंदुओं के सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थान से ही भारत के आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार इस समय के सामाजिक आन्दोलन जनता की राजनैतिक चेतना के अग्रदूत थे। सुधार और व्यवस्था की भावना एक बार जाग्रत होते ही अपने आप जीवन के सभी प्रश्नों पर छा गई। वर्णाश्रम, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, समुद्र यात्रा, गोरक्षा इत्यादि अनेक प्रश्न सामने आये। इनका सामाजिक महत्व था, परंतु राष्ट्रीय महत्व भी कम नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-प्रदेश ईसाई रोमन-कैथोलिक पादरियों के प्रचार-कार्य का केन्द्र बन गया था। काशी, मिर्जापुर आगरा, सरधना ये इनके केन्द्र थे। इस नई विदेशी धार्मिक शक्ति के विरुद्ध जनता और विचारकों में प्रतिक्रिया हुई। ब्रह्म समाज ने ईसाई धर्म के उपासना के ढंग को अपना लिया और उपनिषदों के आधार पर उसी तरह आत्ममूलक निर्गुण धर्म का प्रचार किया जिस तरह मध्ययुग में निर्गुणी संतों, नामदेव

और रामानन्द, ने किया था आर्य समाज में भी देवतावाद और मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई और वह वेदों के कर्मकांड प्रधान बुद्धिमूलक कार्य की ओर प्रवृत्त हुआ। साकार उपासकों को कौन सहारा देता ? भारतेन्दु, श्रद्धाराम फुल्लौरी और पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भक्तिवादी मूर्तिपूजक हिन्दुओं का पक्ष ग्रहण किया और जहाँ उन्होंने ईसाइयों और नवीन निर्गुण मतों से युद्ध किया वहाँ उन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्म की भी नई व्याख्या की और सुधार-मूलक नव्य हिन्दूमत को जन्म दिया। बाहर और भीतर के प्रहारों को सहते हुए उन्होंने सामान्य हिंदू को नई जागरूक शक्ति दी। समाज में जहाँ दुर्बलता आ गई थी वहाँ वहाँ उन्होंने प्रतिकार के साधन बताये। उन्हीं के कर्मठ प्रत्यनों के फल-स्वरूप जहाँ ईसाइयों का धर्म-परिवर्तन कुण्ठित हो गया वहाँ आर्यसमाज धीरे-धीरे सामान्य हिन्दू समाज का सुधारक अंग मात्र रह गया। आर्यसमाज के सारे सुधार इन सुधारकों ने अपना लिये थे, फिर आर्यसमाज का विद्रोह कहाँ ठहरता ? आज हम इन सुधारकों के समय के इतने पास हैं कि हम इनकी महत्ता नहीं देखते परंतु वल्लभ, रामानंद और तुलसी ने जो काम मध्य युग में किया, जिस प्रकार हिन्दू भाव को बचाया, वही काम इन्होंने भी किया। इनमें से कोई इतने बड़े व्यक्तित्व को नहीं पहुँच सका जो तुलसी या रामानन्द को मिला, यह दूसरी बात है, परंतु इनका काम इतना ही महत्त्वपूर्ण है।

मैथिलीशरण उन्नीसवीं शताब्दी के इन्हीं वैष्णव सुधारकों की पंगत में आते हैं। हिन्दूधर्म और हिंदू पौराणिक गाथाओं की नयी व्याख्या करके उन्होंने हिंदुत्व की महत्ता स्थापित की और देश के सामने प्राचीन गौरव का आदर्श रखा। परन्तु गुप्तजी मूलतः प्रचारक नहीं हैं, वे कवि हैं और कवि से अधिक युगद्रष्टा। उन्होंने हिंदू-मात्र में प्राचीन गौरव को पुनर्जीवित किया।

(युग की सबसे महत्वपूर्ण माँग यही थी। इसने राष्ट्रीयता को भी बल दिया। हिन्दू भावना और राष्ट्रभावना में ऐसा कोई विरोध नहीं है कि दोनों को एक साथ नहीं साधा जा सके। गुप्तजी ने एक साथ ही दोनों की साधना की है और वह इस साधना में सफल भी हुए हैं। उनके सामाजिक काव्य पर विचार करते हुए डा० केसरीनारायण शुक्ल लिखते हैं—"मैथिलीशरण गुप्तजी ने समाज के सभी अंगों पर कुछ न कुछ लिखा है। प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति की भूमिका पर कवि आधुनिक सामाजिक अधोगति का चित्र खींचता है और इस प्रकार जनता को सामाजिक सुधार के लिए उत्तेजित करता रहता है। हिन्दू समाज में अग्रगण्य ब्राह्मणों से अपने कर्तव्य पालन के लिए गुप्त जो प्रार्थना करते हैं। ऐसा न करने से आधुनिक अवनति का सारा दोष उन्हीं पर होगा। प्राचीन सुसमय स्वप्न ही रहेगा और अच्छे दिन आवेंगे—

तुम होकर भी कुशपाणि विश्व के शासक थे
बल विक्रम बुद्धि-विकास त्रास दुःखनाशक थे
करते थे प्रकट प्रभाव नित्य तुम नए नए
बोलो तो वे अब कर्म तुम्हारे कहाँ गए
यदि अब भी तुम कर्तव्य न पालोगे अपना
तो रह जायेगा पूर्वकाल निश्चय सपना
हिंदू समाज के दोष तुम्हीं पर आते हैं
सब बातों में अगुआ ही पूछे जाते हैं

(सरस्वती, खंड ११, सं० ५, १९१०)

मैथिलीशरण गुप्त ने स्त्री-शिक्षा और अछूतोद्धार का भरपूर समर्थन किया है। सामाजिक उन्नति में उनकी रचनाओं ने विशेष योग दिया है। सामाजिक सुधार के साथ-साथ सांस्कृतिक रक्षा की अवहेलना भी नहीं हुई है। भारतेन्दु-युग के कवियों के

समान मैथिलीशरण गुप्त भी पश्चिमी रहन-सहन के सर्वांगीण अनुकरण के विरोधी हैं, वे अपनी सामाजिक मनोदृष्टि को विदेशी रहन-सहन की अनुगामिनी नहीं बनाना चाहते। इन्हें अपने सामाजिक रीति-रिवाजों से प्रेम है और ये उनकी रक्षा में तत्पर हैं। इसलिए ये अपने प्राचीन रीति नियमों को दोषपूर्ण समझने वाले पश्चिमी सभ्यता में रँगे युवकों पर व्यंग की वर्षा करते हैं। इन्होंने होली के उत्सव का जोरदार समर्थन किया है। कुछ लोगों के होली के असभ्य उत्सव करनेपर इन्होंने इसके सत्प्रभाव का गुणगान किया है—

"सचमुच ही क्या फाग खेलना है असभ्यता-लक्षण
सभ्यों की यह नई समझ है अद्भुत और विलक्षण
किंतु हमारी ग्राम्य बुद्धि में यही बात दृढ़ होली
पारस्परिक प्रेम-बन्धन को दृढ़ करती है होली
है यह ऐसा समय हमारे सब दुःखों में खोवे
हे हरि कभी हिंदुओं का यह शुभ दिन अस्त न होवे"

(आधुनिक काव्य पृ० १६५—६७)

वही उनकी राष्ट्रीय कविताओं के सम्बन्ध में लिखते हैं— "मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ कवि का अतीत-प्रेम प्रकट करती है। इसकी पूरी अभिव्यक्ति 'भारत भारती' में हुई है। द्वितीय उत्थान के प्रतिनिधि कवि के नाते गुप्त जी ने जनता की मौन भावना को वाणी दी है। इनकी यह विशेषता इस पुस्तक में भी लक्षित होती है। इसके द्वारा इनकी विशेष ख्याति हुई। यह पुस्तक हाली के 'मद्दोजज़र इस्लाम' के उदाहरण पर लिखी गई है और इसमें भारत से प्राचीन गौरव, वर्तमान दुर्दशा और आशापूर्ण भविष्य के चित्र हैं। इतिवृत्तात्मक होते हुए भी 'भारत भारती' नवयुवकों में अत्यंत लोक-प्रिय हुई।" (वही, पृ० १८३)।

"किसानों के प्रति सब से अधिक सहानुभूति मैथिलशरण गुप्त में हैं। किसानों पर इनकी बहुत-सी रचनाएं हैं। 'किसान' कृषकों की समस्या का चित्र उपस्थित करता है। कवि की सहानुभूति 'साकेत' की प्राचीन कथा के बीच भी उमड़ पड़ी है। 'साकेत' में किसानों की समस्या अन्य आधुनिक समस्याओं की अपेक्षा अधिक प्रमुख है। यहाँ पर उनको स्वतंत्र रचना से किसानों की दुरवस्था की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

"पाया हमने प्रभो कौन-सा त्रास नहीं है
क्या अब भी परिपूर्ण हमारा ह्रास नहीं है
मिला हमें क्या यहीं नरक का वास नहीं है
विष खाने को हाय टका भी पास नहीं है
कृषि निंदक मर जाय अभी यदि हो वह जीता
पर वह गौरव, समय कभी का है अब बीता

कवि उनकी अशिक्षा का चित्रण करता है—

"शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है
पूरी बस वह घास खोदने में होती है
यहाँ कहाँ विज्ञान, रसामय भी सोती है
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है

किसानों की दुरवस्था के ये चित्र निष्प्रयोजन नहीं हैं। ये रचनाएं जनता को अपनी दशा सुधारने की प्रेरणा करती हैं और इस प्रकार देश की उन्नति में सहायता पहुँचाती हैं। इन रचनाओं से देश-वासियों को भारत के सुदिन लाने की उत्तेजना मिलती है। इसलिए कवियों के इन उद्गारों को हम निष्फल नहीं कह सकते।" (वही, पृ० १८१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२५ के बाद मैथिलीशरण

गुप्त ने देश को ऐसी कितनी ही कविताएं दीं जिन्हें शुद्ध अर्थों में जातीय काव्य कहा जा सकता है। उन्होंने मुख्य रूप से हमारे पुराण और इतिहास को नवीन रूप से देखा और स्थान-स्थान पर आधुनिक विषयों पर नवीनतम संदेशों का समावेश कर दिया। इस प्रकार उन्होंने हिंदू गौरव को एक नितांत अभिनव रूप दे दिया। यदि हम हिन्दू जातीयता-संबंधी गुप्त जी के काव्य का विश्लेषण करें तो हम उसकी विविधता पर आश्चर्य करने लगेंगे।

(१) रामकथा—पंचवटी

(२) महाभारत—त्रिपथगा

(३) देवी-भागवत—शक्ति

(४) सिक्ख गुरुओं की कथा—गुरुकुल

(५) ऐतिहासिक (राजपूत कालीन) कथा—विकट भट।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि काव्य से राजपूत काल और मुग़ल काल तक के साहित्य को हिन्दू-गौरव की कथाओं के लिए छाना गया है। 'शक्ति' की कथा तो स्वयम् एक रूपक है। किसी समय देवता लोग असुरों से हार गये थे। वे विष्णु के पास पहुँचे परंतु वे भी सहायता करने में असमर्थ रहे। अंत में यह तय हुआ कि सब अपनी थोड़ी-थोड़ी 'शक्ति' दें। इससे जिस महान् मातृमूर्ति का निर्माण हुआ उसने असुरों का मर्दन किया। रूपक-रूप से यह कथा संघगत शक्ति की महत्ता की ओर संकेत करती है। गुप्त जी की राष्ट्रभावना ने उन्हें इस कथा की ओर प्रेरित किया और इस पौराणिक कथा के द्वारा उन्होंने राष्ट्र को संघबद्ध होने का संदेश दिया। इस संघबद्ध शक्ति का सब से महान दृष्टांत 'खालसा' था। 'गुरुकुल' नाम से गुप्त जी ने सिक्खमत के प्रवर्तक गुरुनानक और अन्य नौ गुरुओं के जीवन-चरित काव्यबद्ध किये। गुरु गोविन्दसिंह और बंदा

वैरागी की कथाओं में कवि इतनी वीरता और सहृदयता भर सका है कि उन्हें पढ़ कर मन सहसा स्फूर्ति से भर जाता है। सैकड़ों वर्षों से हिन्दू और सिख अलग-अलग हो गये हैं। गुप्त जी की राष्ट्रभावना ने इस विषमता को देखा और इसके निराकरण की चेष्टा की। 'विकट भट' एक ऐतिहासिक कथा है। जिस प्रकार 'नकली किला' में कवि नकली बूंदी के किले को बूंदी का प्रतीक मान कर उसपर अपना बलिदान चढ़ानेवाले वीर क्षत्री को श्रद्धांजलि देने चला है, उसी प्रकार 'विकट भट' में वह जन्मभूमि के गौरव और जातीय कलंक की रक्षा के लिए एक वीर बालक को कटिबद्ध करता है। 'पंचवटी' को छोड़कर इन कथाओं में साहित्यिकता की मात्रा विशेष नहीं है। वहाँ कथा का प्रवाह है, भाषा का सीधा-सादा प्रांजल रूप है, आदर्श का हिमालय-चुम्बी ऐश्वर्य है, परन्तु यही बहुत कुछ है। गुप्त जी 'कला को कला' मानकर चलनेवाले रसिक-हृदय कवि नहीं हैं। उन्होंने कलम का प्रयोग जातीय और राष्ट्रीय उत्थान के लिए किया है। कवि के नाते वह चाहे युग-युग अमर नहीं हों—प्रत्येक कवि कालिदास और तुलसीदास बन सके, यह संभव भी नहीं है—परन्तु उन्होंने अपने युग को महान् शक्ति दी। जूझते हुए राष्ट्र को आत्म-दीनता से ऊपर उठा कर कठोर कर्मठता का सन्देश उन्होंने दिया। यही उनकी महानता है। कथा को पढ़ते समय चाहे किसी अनौचित्य का ध्यान हमें आ भी जाय, परन्तु काव्य आदर्शात्मक स्वरूप के कारण हम उदात्त भावना से भर जाते हैं। 'विकट भट' में जोधपुर के महाराज विजयसिंह ने अपने दरबार में देवीसिंह से पूछा—देवीसिंह जी !

कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे ?

उस समय वीर देवीसिंह कहते हैं—

"पृथ्वीनाथ ! जो मैं रूठ जाऊँ" कहा वीर ने
"जोधपुर की तो फिर बात क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की परतली में ही—
मैं यों नव-कोटी मारवाड़ को उलट दूँ"

यह मिथ्या दंभ नहीं है। जब युद्ध में देवीसिंह अकेला ही विजयसिंह की सेना को रोक कर अलौकिक शौर्य का परिचय देता है, तब हम स्तब्ध रह जाते हैं। देवीसिंह का वंशज वीर बालक सवाईसिंह बड़ी शान से विजय सिंह के दरबार में आता है—

निर्भय मृगेन्द्र यथा करता प्रवेश है
वन में ज्यों डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों
भोर के भभूके सा प्रविष्ट हुआ साहसी
बालवीर मंद मंद धीर गति से, धरा
मानों धँसती जा रही थी, वदन गँभीर था
उठता शरीर मानों अंग में न आता था,
वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे

राजपूतों के शौर्य का जैसा वर्णन बार-बार गुप्तजी के काव्य में हुआ है, वैसा वर्णन अन्य स्थान पर मिलना असम्भव है। परन्तु गुप्तजी की यह राष्ट्रीय हुँकार प्राचीन इतिहास के गौरव-गान तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलनों को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। बारडोली-सम्बन्धी उनकी एक प्रसिद्ध कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

ओ विश्वस्त बारडोली ! ओ भारत की थर्मापोली
नहीं नहीं फिर भी सशस्त्र थी ग्रीक सैनिकों की टोली

हल्दी घाटी के रण में भी वही पूर्व परिपाटी थी
बढ़ बढ़ कर वीरों की सेना वीरवरों ने काटी थी
पर तू है निःशस्त्र तपस्विनि ! फिर कैसे ममता होगी
उपमा आप बनेगी तू यदि क्षोणी में ममता होगी
इत्यादि

चाहे कोई प्राचीन काल का जातीय या राष्ट्रीय गौरव हो, चाहे अर्वाचीन काल का, मैथिलीशरण गुप्त की कवि-दृष्टि उस तक पहुँच ही गई है और उन्होंने भाषा और शैली की सारी शक्ति का प्रयोग उस घटना से प्रेरणा लेने के लिए किया है। 'महाराजा पृथ्वीराज का पत्र राणा प्रताप के प्रति' की कुछ पंक्तियां देखिये—

हा ! कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्य लीन
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ सिंधु संस्था विहीन
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र
देखा है, और भी हाँ, अकबर कर में, आपका संधिपत्र

वास्तव में जातीय और राष्ट्रीय गौरव की साधना गुप्त जी की जीवन-पर्यन्त साधना रही है। उनकी जातीयता की भावना का, सर्वोत्कृष्ट चित्र 'सिद्धराज' में मिलेगा। सिद्धराज कहता है—

"आया अलक्षेन्द्र यहाँ, वीर पुरु हारा भी
रहते हुए भी पुरुषार्थ, दैवयोग से
किन्तु अंत में क्या हुआ ! चन्द्रोदय अपना
मूर्तिमंत भव्य यश ! नाता जुड़ा उनसे,
ज्ञान, कर्म और कला-कौशल ये जिनमें
सब भर पाया नहीं अंत में क्या हमने ?

× × × ×

होंगे युग-पुरुष स्वयं ही युग-युग में
देना पड़े मूल्य हमें चाहे जितना बड़ा

हम यवनों से भी ठगाए नहीं जायँगे
आर्यभूमि अंत में रहेगी आर्यभूमि ही
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सब की;
होगा एक विश्व तीर्थ भारत की भूमि का

जिस कवि का जीवन इतनी ऊँची जातीय और राष्ट्रीय भावना से भरा हुआ हो, उस कवि का मान देश में होगा ही। कवि वाणी का विलासमात्र नहीं है, वह तो वाणी का गौरव है। जो कवि उसको प्रयाग खडग का तरह कर सकता है, वह धन्य है। राष्ट्रीय और जातीय कवि मैथिलीशरण गुप्त ऐसे ही महान कवि हैं।

इस जातीयता का केन्द्र 'गीता' है। अनेक स्थानों पर 'गीता' के निष्काम कर्मवाद का संदेश ही कवि ने हिन्दू जनता के आगे रखा है—

श्री शुक ने सब को छोड़ा
रंभा से भी मुँह मोड़ा
किन्तु विदेह कर्मयोगी
मुक्त रहे रह कर भोगी
प्रकृति-पुरुष की है क्रीड़ा
कभी विकास, कभी व्रीड़ा
जीव, ब्रह्म, माया न तजो
शिव को शक्ति समेत भजो
रवि पश्चिम को जाता है
वहाँ ज्योति फैलाता है
फिर प्राची को आता है
ललित लालिमा लाता है
आवागमन मुक्ति-रवि है
पर निष्काम युक्त रवि है

यही तुम्हारा भी क्रम हो
मित्र, तभी सार्थक श्रम हो
(वैतालिक)

परन्तु इस जातीयता के मूल में राष्ट्रीयता के स्वर ही बन रहे हैं। यह विराट भारतभूमि ही तो हिन्दुओं की कार्यभूमि है। यही तो अवतारों का लीलाक्षेत्र है। इसी कुरुक्षेत्र में देवासुर-संग्राम हुए थे और देवताओं ने राक्षसों (असुरों) पर विजय पाई थी। इसी से राष्ट्रीयता और हिन्दू जातीयता में कोई विरोध नहीं हो सकता। और इसीलिए तो 'हिन्दू' जैसे ग्रंथ में भी हम गुप्तजी को भारत की भव्य झाँकी उतारते पाते हैं—

वही अखिल अन्नों के खेत
खानें बहु मणि, धातु निकेत
देखो अब भी खोलो नेत्र
वही प्रांतपुर पुण्य क्षेत्र
हुए जहाँ के चारु चरित्र
एक एक सौ-सौ स्मृति-चित्र
वही पंचनद राजस्थान
प्राप्त जिन्हें है गौरवमान
वही विहार-उड़ीसा-बंग
हैं अक्षय भारत के अंग
युद्ध, मध्य, पांचाल, पुलिन्द
चेदि, कच्छ, काश्मीर, कुलिन्द
द्रविड़, मद्र, मालव, कर्णाट
महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, विराट
कामरूप किंवा आसाम
सातोंपुरियाँ, आठों धाम

अटक कटक तक एक अभंग
दुख में सुख में है सब संग

\+ +

छोड़ परस्पर वैर-विवाद
करो आर्तगण अपनी याद

परन्तु गुप्तजी की भारत की कल्पना एकांगी नहीं है। कई सहस्र वर्षों के इतिहास, कला, संस्कृति और साहित्य का एक सामूहिक, सार्वग्राहिक नाम 'भारत' है। इसी के प्रति कवि प्रणत होता है—

मेरे भारत ! मेरे देश
बलिहारी तेरा वर वेश
बारह मुकुट विभूषित भाल
भीतर जटा-जूट का माल
ऊपर नभ, नीचे पाताल
और बीच में तू प्रणपाल
बंधन में भी मुक्ति-निवेश
मेरे भारत, मेरे देश
इधर विविध लीला-विस्तार
उधर गुणों का भी परिहार
जिधर देखिये एकाकार
किधर कहैं हम तेरा द्वार
हृदय कहीं से करे प्रवेश
मेरे भारत, मेरे देश

सच तो यह है कि हम मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भारत की प्राचीन संस्कृति, भारत की प्राचीन धर्म-नीति और राष्ट्र की गौरव-विभूतियों को अनेक प्रकार से मुखरित देखते हैं। जिसे हमने हिन्दू राष्ट्रीयता कहा है, वह कांग्रेस की राष्ट्रीयता से बहुत

भिन्न नहीं है। अंतर केवल इतना है कि मुख्यतः राजनीतिक संस्था होने के कारण कांग्रेस की राष्ट्रनीति धर्म को स्पर्श नहीं करती और भारत के प्राचीन गौरव का सम्बन्ध केवल हिन्दू-भावना से जोड़ देती है। राष्ट्रीय कवि गुप्त आज की राष्ट्र-भावना के सबसे बड़े पोषक हैं परंतु वे जानते हैं कि एक राष्ट्र के रूप में भारत की कल्पना चाहे जितनी आधुनिक हो, भाषा, धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में देश सर्वदा अविच्छिन्न और अखंडित था। इस अविच्छिन्न और अखंडित देश की भावना कवि को प्रेरणा देती है। भारत का सारा प्राचीन चिंता कवि की राष्ट्रीयता की भित्ति बन जाता है। इसीलिये राष्ट्रीय कवि गुप्तजी को हिन्दू जातीयता का कवि कहना कोई विरोधी बातें नहीं हुईं।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि पिछले चार-पाँच दशकों तक गुप्तजी की कल्पना हिन्दुओं का बल देती रही है। उसने उनकी भावनाओं का परिष्कार किया है और उनमें आत्मगौरव और आत्मत्याग का मंत्र भरा है। यदि भारत को महान राष्ट्र बनाना है, तो वह हिंदूधर्म, हिन्दू दार्शनिक चिंता और हिन्दू आचार-विचारों को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता। गुप्तजी का काव्य इस क्षेत्र में उसका सहायक होगा।



५

झंकार (१९२९) और मंगलघट (१९३४)

मैथिलीशरण गुप्त जी रचनाओं में झंकार (१९२९) और मंगलघट (१९३४) का महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों रचनायें मुक्तक गीतात्मक कविताओं या प्रगीतियों का संग्रह मात्र हैं। इन की विशेषत: यह है कि इन प्रगीतियों पर छायावाद काव्य की धारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित है। इनकी भाव-भूमि द्विवेदी युग की प्रकृत भाव-भूमि से भिन्न है, अतः गुप्त जी के काव्य में इनका अलग स्थान होगा।

'झंकार' में १९१३ ई० के बाद की ऐसी कविताएं संग्रहीत हैं, जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि (१९२१) और तत्प्रभावित हिन्दी कविता का प्रभाव सूचित करती हैं। 'बाल-बोध' कविता में कवि कहता है—

अब भी एक प्रश्न था—'कोऽहं'
कहूँ कहूँ जब तक—'दासोऽहं'
तन्मयता कह उठी कि 'सोऽहं'
बस हो गया, सबेरा
दिनमणि के ऊपर उसकी ही
किरनों का है घेरा

× ×

पहले एक अजन्मा जाना
फिर बहुरूपों में पहचाना

वे अवतार चरित नव नाना
चित्त हुआ चिर चेरा
निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का
निकला वास-बसेरा

स्पष्ट है कि कवि अद्वैतवाद मानता है, परंतु साथ ही निर्गुण-सगुण के अभेद और अवतारवाद में उसकी आस्था है। गुप्तजी मूलतः वैष्णव कवि हैं। अतः केवल संकेतात्मक निर्गुण अध्यात्म उन्हें विशेष प्रिय नहीं हो सकता था। संग्रह की पहिली कविता में ही उन्होंने राम की दुहाई दी है। साकेत में भूमिका-स्वरूप कवि कहता है —

हो गया निर्गुण सगुण साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है
किस लिए यह खेल प्रभु ने है किया
मनुज बनकर मानवी का पय पिया
भक्तवत्सलता इसी का नाम है
और वह लोकेश लीलाधाम है
पथ दिखाने के लिये संसार को
दूर करने के लिये भू-भार को
सफल करने के लिए जन-दृष्टियाँ
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियाँ

इसी द्वैध भावना के कारण कवि निर्गुण के गीत उस तरह खुलकर नहीं गा सका जिस तरह रवीन्द्र और छायावादी कवियों ने गाये। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नई काव्यानुभूति को कवि अच्छी तरह पकड़ सका है। 'झंकार' शीर्षक कविता में वह कहता है—

इस शरीर की सकल शिरायें
हों तेरी तंत्री के तार

आघातों की क्या चिंता है
उठने दे ऊँची झंकार
नाचे नियति, प्रकृति सुर साधे,
सब सुर हों सजीव, साकार
देश-देश में काल - काल में
उठे गमक गहरी गुंजार
कर प्रहार, हाँ, कर प्रहार तू
मार नहीं यह तो है प्यार
प्यारे, और कहूँ क्या तुझसे,
प्रस्तुत हूँ मैं, हूँ तैयार

एक अन्य कविता 'विराट वीणा' में उस परोक्ष सत्ता को सारे विश्व में व्याप्त मान कर वीणावादक के रूप में उसकी कल्पना करता है—

तुम्हारी वीणा है अनमोल
हे विराट, जिसके दो तूँबे
हैं भूगोल, खगोल
दया-दण्ड पर न्यारे-न्यारे
चमक रहे हैं प्यारे-प्यारे
कोटि गुणों के तार तुम्हारे
खुली प्रलय की खोल
तुम्हारी वीणा है अनमोल

'गीतांजलि' के कुछ गीतों में यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि परमात्मा दोनों उपेक्षितों के साथ हैं, उसमें अपार सम्वेदना है और प्राणी मात्र के प्रति दया (करुणा, मैत्री) का भाव होने से उसकी अनुभूति संभव है। अपने धनमद में हम दोनों उपेक्षितों में उसकी सत्ता तक अस्वीकार कर देते हैं और अन्त में उस विश्व के सार-तत्त्व से हाथ धो बैठते हैं।

बार बार तू आया
पर मैंने पहचान न पाया
हिम-कंपित कृश पाणि पसारे
पहुँच बुभुक्षित मेरे द्वारे
तूने मेरा धक्का खाया
बार-बार तू आया
दृगों-दृगों से निकल पड़ा तू
बड़ा करुण था, विकल बड़ा तू
पर मैं कौतुक से मुसकाया
बार-बार तू आया

(परिचय)

'साधना' का एक गीत है—मैं अपने गीत सुनाने की याचना करता हुआ, संसार भर में घूमा। पर किसी ने सुनने की अभिलाषा प्रकट न की। मेरा एक मात्र उद्देश्य था प्रशंसित होना।

अन्त में मैं निराश हो कर लौट रहा था कि राजपथ में एक नवीन सजीवता आ गई। सुना कि सम्राट आ रहे हैं। मैं वैसा ही खड़ा रह गया। देखता क्या हूँ वे पाँव-पियादे मेरी ओर आ रहे हैं। पास आ जाने पर नम्र हो कर मैंने आज्ञा मांगी। वे हँस कर बोले—सखे, मैं तुम्हारे पीछे सारे संसार में घूमा हूँ। पर तुम्हारा ध्यान ही मेरी ओर न था। इससे अभी तक तुमसे यह याचना न कर सका कि मुझे अपना गाना सुनाओ। याचक से याचना! जिसके लिये सारे संसार ने मुझे विमुख किया उसकी याचना स्वयं सम्राट करे। अहोभाग्य!

पुलकित हो कर मैंने गान आरम्भ किया। प्रेम के मारे मेरा कंठ भर रहा था, इससे मैं प्रतिपद पर रुकता था। मुझे सँभालने के लिये सम्राट ने मेरा साथ दिया उनके नव नीरद-निघोष-

निंदक-निनाद में मेरा स्वर मिल कर समस्त ब्रह्मांड में गूँज उठा। सारे अंड-पिण्ड उसी की प्रतिध्वनि करने लगे।

तब सम्राट ने धीरे से कहा—"यह प्रतिध्वनि तो अन्त काल तक होती रहेगी। आओ हम तुम चलें।"

इस प्रकार के अनेक गीत 'गीतांजलि' में मिलते हैं। इन गीतों में आत्मा की महानता, निर्लेपता और ईश्वर-विषयक रति की बात बार-बार दुहराई गई है। मध्य युग के भक्ति साहित्य में जहां आत्मा के दैन्य के स्वर प्रधान हैं वहां इस साहित्य में आत्मा का आश्वासन भाव सामने आता है। क्षुद्र धूलि से उठ कर मनुष्य की आत्मा महान अनन्त से गौरव-गरिमा प्राप्त करती है। अनेक छोटे-छोटे रूपकों और कथा-खण्डों में मानवी आत्मा का यह गौरव ही स्थापित हुआ है। एक सुन्दर गीत में 'झंकार' का कवि भी कहता है।

मिलूं क्या जाकर रीते हाथ
प्रहरी, क्या कहते हो! मन में
क्या सोचेंगे नाथ
है ही क्या! बस एक फूल यह
तजूं इसे भी आज
अच्छी बात इसी मिस मेरी
रह जायेगी लाज
चला मैं, चला न कुछ भी साथ
मिलूं०
मंदिर में मणि सिंहासन पर
बैठे थे वरवास
विस्मय, कैसे व्यक्त कुसुम वह
पहुँचा उनके पास

छूपते थे- गुण - गौरव - गाथ
मिलूँ०
हँस बोले वे—"भेंट तुम्हारी
हुई मुझे स्वीकार
किंतु बनाओगे अपने को
तुम किसका उपहार
झुका चरणों में मेरा माथ
मिलूँ ०
(उपहार)

कभी कवि परमात्म सत्ता को 'स्वयंआगत' के रूप में पाकर प्रसन्न होता है—

तेरे घर के द्वार बहुत हैं
किसमें होकर आऊँ मैं
सब द्वारों पर भीड़ लगी है
कैसे भीतर जाऊँ मैं

× ×

बीत चुकी है बेला सारी
किन्तु न आई मेरी बारी
करूँ कुटी की अब तैयारी
वहीं बैठ गुण गाऊँ मैं
तेरे घर के०
कुटी खोल भीतर जाता हूँ
तो वैसा ही रह जाता हूँ
तुझको यह कहते पाता हूँ
"अतिथि, कहो क्या लाऊँ मैं"

इस प्रकार की कविताएं गुप्तजी की मूलतः साकार वैष्णव भावना

की परंपरा में नहीं आतीं। उनपर स्पष्ट रूप से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रहस्यात्मक गीतों का प्रभाव है। रामकुमार वर्मा का एक प्रसिद्ध गीत है—

मेरे जीवन में एक बार तुम
    देखो तो अपना स्वरूप
मैं तुममें प्रतिबिंबित होऊँ
    तुम मुझमें होना औ अनूप
राका-शशि अपनी रजतमाल
    जब रजनी को पहनाता हो
जब मधुऋतु में तरु का अंतर
    लतिका से कम हो जाता हो
तब तुम बूँदों में बरस पड़ो
    मैं देखूँ वह अद्भुत स्वरूप

इसकी तुलना मैथिलीशरण गुप्त की आमंत्रण शीर्षक कविता से कीजिये—

आओ, हृदय-दोल पर झूलो
  मेरे मानस के सहस्रदल
    फूलो फूलो फूलो
ऊँचे से ऊँचा जाता है
नीचे से नीचे आता है
यह यों ही झोंके खाता है,
    भावुक, इसे न भूलो
आओ, हृदय-दोल पर झूलो
पवन कुसुम-पर झटक रहा है
भौंरे को यह खटक रहा है
दोनों का मन अटक रहा है
    ऐसे में अनुकूलो

दोनों कविताओं के भावविन्यास, शब्दावलि और अभिव्यंजना शैली में कोई विशेष अंतर दिखलाई नहीं पड़ता। गुप्तजी जैसे प्रौढ़ प्रसिद्ध कवि का छायावाद की भाषा-शैली अपनाना छायावाद की विजय ही कही जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि इन छायावादी (रहस्यात्मक) कविताओं में उतनी स्निग्धता नहीं है जितनी रामकुमार वर्मा या महादेवी वर्मा के काव्य में, परंतु कवि अपने प्रकृत क्षेत्र में इतनी दूर जाकर भी कला की ऐसी सुंदर कृतियां उपस्थित कर सका यह उसकी विजय ही कही जायगी। कुछ गीतों में वैष्णव भावना का स्वतः ही प्रवेश हो गया है और इसके कारण उन्हें वैष्णव पदावली की श्रेणी में रखा जा सकता है यद्यपि उनकी शैली आधुनिक है—

आया यह दीन आज चरण-शरण आया
हाय सौ उपाय किये फल न एक पाया
भाल-तंतु, डाल-डाल
था बुना विशाल जाल
आप फँसा ! हा कपाल
मकड़-जाल छाया
आया यह दीन०
सर्व अहंकार गर्व
नाथ हुआ आज खर्व
पाऊँ अब प्रणति पर्व
मिटे मोह-माया
आया यह दीन०

(शरणागत)

ऐसी भी कुछ कविताएँ हैं जिनमें आलंबन परोक्ष सत्ता नहीं है। लेखक किसी महत्वपूर्ण नैतिक भावना को अपना विषय बना कर चला है। 'प्रणाम' शीर्षक एक कविता का उल्लेख 'निराला'

ने 'गीतिका' में किया है। हिन्दी की गीति-प्रतिभा का पहला परिचय उन्हें इसी कविता से मिला—

बहु कल कंठ खगों के आश्रय
पोषक या प्रतिपाल, प्रणाम
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम
हरे-भरे आँखों को शीतल
करने वाले तुम्हें प्रणाम
छाया देकर पथिकों का श्रम
हरनेवाले, तुम्हें प्रणाम
शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में
भरनेवाले, तुम्हें प्रणाम
\+ \+
जन्मभूमि के छत्र, पत्रमय
अहो समुन्नत शाल, प्रणाम
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम
विस्तृत शतभुज शाखाओं में
देने वाले वीर, प्रणाम
हिमकण से प्रभुदत्त वज्र तक
लेने वाले धीर, प्रणाम
विविध कालदर्शी साक्षी सम
बद्धमूल, गंभीर, प्रणाम
सभी दशाओं में सदैव ही
परहित हेतु शरीर, प्रणाम

इन रहस्यात्मक कविताओं को लक्षित करके ही रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"यद्यपि गुप्त जी जगत और जीवन के व्यक्त क्षेत्र

में ही महत्त्व और सौन्दर्य का दर्शन करने वाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखने वाले कवि हैं पर तृतीय उत्थान मे 'छायावाद' नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुनकर इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों में गाये जो 'झंकार' में संग्रहीत हैं। पर असीम के प्रति उत्कंठा और लम्बी चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्तजी की अंतः-प्रेरित प्रवृत्ति के अंतर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख उधर भी जा पड़े। इस कथन में सच्चाई की मात्रा काफ़ी अधिक है। मनो-वृत्ति का मेल न होने के कारण झंकार की केवल कुछ ही कविताएं इतनी उत्कृष्ट बन सकी हैं कि हम उन्हें छायावादी कवियों की इसी प्रकार की रचनाओं के समकक्ष रख सकें।

'मंगलघट' में 'केशों की कथा', 'स्वर्गसहोदर' आदि ऐसी अनेक कथात्मक कविताएँ संग्रहीत हैं जो पहले सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थीं। वास्तव में यह संग्रह गुप्त जी की अनेक ऐसी फुटकर कविताओं को हमारे सामने उपस्थित करता है जो अनेक वर्षों के विस्तार में बिखरी पड़ी हैं। कथात्मक लंबी कविताओं से लेकर छोटी-छोटी गीतिकायें और रहस्यात्मक उक्तियाँ तक इस संग्रह में स्थान पा सकी हैं। परन्तु इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में स्वदेशप्रिय और मानवजीवन-संबंधी उदात्त भावनाओं को ही स्थान मिला है और इन्हीं के कारण उनकी प्रसिद्धि हुई है। 'स्वदेशीयसंगीत' शीर्षक से जो कविताएं प्रकाशित हुई है वह तो आज भी गाँव-शहर की साधारण लिखी-पढ़ी जनता का कंठहार हैं। कितनों को उन्होंने बल दिया, कितने हँस-हँस उन्हें गाते हुए देश के लिए कष्ट सहने के लिए आगे बढ़े हैं। कवि पुरुषार्थ के गीत गाता है—

मानव जीवन में जय के लिए
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिये

विजय तो पुरुषार्थ बिना कहाँ
कठिन है चिर जीवन भी यहाँ
भय नहीं, भव-सिंधु तरो, उठो
पुरुष हो पुरुषार्थ करो, उठो
यदि अनिष्ट अड़ें, अड़ते रहें
विपुल विघ्न पड़ें, पड़ते रहें
हृदय में पुरुषार्थ रहे भरा
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा
दृढ़ रहो, ध्रुव धैर्य धरो, उठो
पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो
यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है
प्रिय तुम्हें यदि मान महत्व है
यदि तुम्हें रखना निज नाम है
जगत में करना कुछ काम है
मनुज ! तो श्रम से न डरो, उठो
पुरुष हो पुरुषार्थ करो, उठो

वह निराशा तो जानता नहीं। कमल पंक में खिलता है। पंक से ऊपर उठकर सत्य और सुन्दर का प्रकाश ग्रहण करना ही मनुष्य का धर्म है। वह अपने मन को निराश क्यों करे? कवि कहता है—

निज गौरव का नित ज्ञान रहे
"हम भी कुछ हैं"—यह ध्यान रहे
मब जाय अभी पर मान रहे
मरणोत्तर गुंजित गान रहे
कुछ हो न तजो निज साधन को
नर हो, न निराश करो मन को

गीता की हुंकार को गुप्तजी के कंठ से सुनिये—

विचार लो कि मृत्यु है
न मृत्यु से डरो कभी
मरो, परन्तु यों मरो
कि याद जो करें सभी
हुई न यों सुमृत्यु तो, वृथा
मरे, वृथा जिये
मरा नहीं वही कि जो
जिया न आपके लिये
यही पशु-प्रवृत्ति है कि
आप आप ही चरे
वही मनुष्य है, कि जो
मनुष्य के लिये मरे
उसी उदार की कथा
सरस्वती बखानती
उसी उदार से धरा
कृतार्थ भाव मानती
उसी उदार की सदा
सजीव कीर्ति गूँजती
तथा उसी उदार को
समस्त सृष्टि पूजती
अखण्ड-आत्म भाव जो
असीम विश्व में भरे
वही मनुष्य है कि जो
मनुष्य के लिये मरे

इस प्रकार के उदात्त भावों को गद्यात्मक पद्य में रख कर ही लेखक अपनी कला को समाप्त नहीं कर देता, अनेक स्वस्थ

प्रतीकों और दृष्टांतों एवं प्राचीन ऐतिहासिक कथाओं के द्वारा वह इसी उदात्त भाव की पुष्टि करता है। 'निर्झर' शीर्षक कविता में वह लिखता है—

शत्‌शत्‌ बाधा-बंधन तोड़
निकल चला मैं पत्थर तोड़
प्लावित कर पृथ्वी के पर्त
समतल कर बहु गह्वर-गर्त
दिखलाकर आवर्त-विवर्त
आता हूँ आलोड़-विलोड़
शत्‌शत्‌०
पारावार मिलन की चाह
मुझे मार्ग की क्या परवाह
मेरा पथ है स्वतः प्रवाह
जाता हूँ चिर जीवन जोड़
शत्‌शत्‌०

'जीवन की जय' शीर्षक एक दूसरी कविता में वह इसी भाव को कुछ दार्शनिकता का पुट देते हुए सामने रखते हैं—

मृषा मृत्यु का भय है
जीवन की ही जय है
जीवन ही जड़ जमा रहा है
निज नव वैभव कमा रहा है
पिता पुत्र में समा रहा है
यहाँ आत्मा अक्षय है
मृषा०
नया जन्म ही जग पाता है
मरण मूढ़-सा रह जाता है
एक बीज सौ उपजाता है

सृष्टा बना सदय है
मृषा०

आज हिन्दी कविता में भाषा और कला का विकास हो चुका है। छायावाद-काव्य के प्रवर्तकों ने अथक परिश्रम के बाद हिंदी के गद्य को सुन्दर गौरववाणी का रूप दिया है। आज जब हम पीछे मुड़ कर देखते हैं तो गुप्तजी की कविताओं में हमें कोई रस नहीं मिलता। लगता है, जैसे सब गद्य-गद्य है, सब रूखा-सूखा है, कविता वह नहीं है, शेष चाहे जो हो। परन्तु किसी भी कविता को पढ़ते समय हमें उसकी ऐतिहासिक महत्ता को भुला देना नहीं होगा। जिस समय गुप्तजी की यह कविताएं जनता में लोकप्रिय हुईं, उस समय खड़ी बोली की कविता का सुन्दरतम रूप यही कविताएं थीं। वाणी का कैलाशचुंबी गौरव इन कविताओं में नहीं हो, उनमें जीवट पर्याप्त मात्रा में था। वह कर्मठता, आदर्शवाद और मानवता से ओत-प्रोत थीं। जीवन की कठिनाइयों से लड़ने का मंत्र उन्होंने सहस्रों नर-नारियों के प्राणों में फूँका। 'कर्तव्य' शीर्षक कविता को ही लीजिये—

भावुक, भरो भाव रत्नों से
भाषा के भंडार भरो
देर करो न देशवासी गण
अपनी उन्नति आप करो
एक हृदय से एक ईश का
धरो, विविध विधि ध्यान धरो
विश्वप्रेम-रत रोम - रोम से
गद्गद् निर्झर सदृश झरो
मन-वाणी से, कर्मों से
आधि, व्याधि, उपाधि हरो

अक्षय आत्मा के अधिकारी
किसी विघ्न-भय से न डरो
विचरो अपने पैरों के बल
भुजबल से भवसिंधु तरो
जियो कर्म के लिए जगत में
और धर्म के लिए मरो

इस छोटी सी कविता में क्या है जिसे कविता कहा जाये, परन्तु फिर इस कविता में क्या नहीं है । सीधी-सादी भाषा में, किसी प्रकार का छल छंद जिसमें नहीं, ऐसी वाणी में, अलंकार और रस के चक्कर में पड़े बिना कवि अपने देशवासियों के प्राणों में नया मंत्र फूँक रहा है। कला उसमें नहीं है—परन्तु कला सदैव वांछनीय भी नहीं है और कवि का अपनी कविता का आदर्श भी साधारण आदर्श से भिन्न है। 'कविता' शीर्षक रचना में उसने इस प्रकार अपना आदर्श रखा है—

कविता से सप्रेम कहा मैंने, "वर मुझ को
दूंगा मैं उपहार अलंकारों के तुझको
बोली तब वह कि चाहती हूँ कब इनको,
पूछा मैंने भला खोजती है फिर किसको ?

"जो मुझे हृदय का दान दे"
कविता ने उत्तर दिया
"वह कोई हो", मैंने उसे
अपना कर के वर लिया

इसी निरालंकार भाषा में हम मंगलघट को कई सुन्दर ऐतिहासिक कहानियों को लिखा पाते हैं। नक़ली क़िला, महाराज पृथ्वीराज का पत्र, बाजी प्रभु देशपांडे और विकट भट ऐसी ऐतिहासिक कहानियाँ हैं जो हमें आन पर मर-मिटना सिखाती है और

जिनके नायकों ने सब परिस्थितियों में सब तरह देश को सबसे ऊपर रखा है। महाभारत कवि का प्रिय ग्रंथ रहा है और उसके कुछ प्रसंगों पर मुक्तक कविताएँ भी इस संग्रह में मिलेंगी जैसे भीष्म-प्रतिज्ञा, द्रौपदी-दुकूल, वरदान, उत्तर और वृहन्नला, कुन्ती और कर्ण एवं रण-निमंत्रण। चाहे महाभारत की घटना हो या रामायण की या किसी पुराण की या किसी इतिहास की कवि का उद्देश्य उदात्त भावनाओं द्वारा देश भक्ति के संस्कार जागृत करना रहा है और इसी से वे राष्ट्रीय कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। केवल राष्ट्रभावना को लेकर इतना बड़ा काव्य इस रूप में नहीं लिखा गया। इसमें कला की वर्णच्छटा नहीं सही, हृदय-मन-आत्मा को उठाने वाला बहुत कुछ है। कुछ रहस्यवादी कविताएँ भी संग्रह में हैं जैसे 'पुष्पांजलि'—

मेरे आँगन का एक फूल।
सौभाग्य-भाव से मिला हुआ,
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ,
संसार-विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल।

× × ×

आये इतने में श्री निवास,
था इसी फूल-सा मंद हास,
बोले, इसमें था स्वर्ग वास,
वह गई, सूक्ष्म था, रहा स्थूल।

बोला तब मैं—हे राज-राज!
क्या है इसके अतिरिक्त आज,
जिसकी अंजलि दूँ तुम्हें साज,
लो इसको सब दोष भूल।

इस प्रकार की कविताओं में रवीन्द्रकाव्य का प्रभाव स्पष्ट है परन्तु उस समय रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से कहाँ तक बचा जा सकता, विशेषकर ऐसे कवि से जिसने 'मेघनाद बध' और 'विरहिणी ब्रजांगना' जैसे बङ्गला काव्यों से अपने प्रारम्भिक काव्य-संस्कार ग्रहण किये हों।

———

६

प्रौढ़ रचनाएँ : महाकाव्य और खंडकाव्य

(साकेत, यशोधरा और द्वापर)

साकेत, यशोधरा और द्वापर मैथिलीशरण गुप्त की तीन सबसे प्रौढ़ रचनाएँ हैं। साकेत महाकाव्य है जो महाकाव्य की अपनी परिपाटी के अनुसार सर्गबद्ध है, यशोधरा चम्पू (गद्य-पद्य) है और द्वापर में ब्राउनिंग की कुछ रचनाओं को तरह भिन्न-भिन्न पात्रों के आत्मकथन (monologues) हैं। शैली की दृष्टि से ये तीन रचनाएँ नितांत भिन्न हैं। परन्तु सब में एक सी काव्यकला है, एक सी प्रौढ़ता। समय की दृष्टि से भी ये एक ही साथ लिये जा सकते हैं। साकेत की प्रकाशन-तिथि १६३२ है, यशोधरा की १६३३ और द्वापर की १६३६। मंगलघट (१६३४) मुक्तक रचनाओं का संग्रह है, अतः उसके द्वारा इस रचना-क्रम में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता।

साकेत इन तीनों रचनाओं में सर्वोपरि है। कदाचित् कवि अपनी सारी रचनाओं में इसे शीर्षस्थान देता है। 'निवेदन' में वह लिखता है—

"इच्छा थी कि सब के अन्त में, अपने सहृदय पाठकों और साहित्यिक बन्धुओं के सम्मुख 'साकेत' समुपस्थित करके अपनी धृष्टता और चपलताओं के लिए क्षमापूर्वक बिदा लूँगा।" साकेत में उर्मिला को जिस सतर्कता और तन्मयता से उसने गढ़ा है, वह अपूर्व है। कला और काव्यप्रतिभा की सारी शक्ति बड़ी सहानुभूति से उस पर न्यौछावर कर दी गई है।

साकेत अयोध्या का पौराणिक नाम है। अतः साकेत की कथा रामायण की ही कथा है। हिन्दी साहित्य में अनेक रामकथाएँ काव्यबद्ध मिलेंगी, परन्तु इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'रामचरितमानस' (१५७५ ई०) है १६०० ई० में केशवदास ने 'रामचंद्रिका' नाम से पांडित्यपूर्ण रामकथा लिखी, परन्तु वह साहित्य से बाहर जा कर लोकजीवन में स्थान नहीं पा सकी। आधुनिक हिन्दी काव्य में मैथिलीशरण और "हरिऔध" ने रामकथा को नया रूप देने का प्रयत्न किया। इसमें मैथिलीशरण ही अधिक सफल हुए हैं।

१—कथानक

'साकेत' का कथानक मूलतः रामकथा है। आदि कवि ने रामकथा की जो रूपरेखा बाँध दी थी, वह बहुत कुछ बाद में भी उसी तरह चलती रही। रामकथा को लेकर अनेक पुराण, नाटक और चंपू लिखे गये और कथानक के विभिन्न अंग विकसित भी हुए। परन्तु रामकथा के मौलिक रूप में कोई बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन संभव न हो सका। केवल जहाँ-तहाँ अनेक प्रसंग बढ़ा दिये गये। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में सीता के पूर्वराग और विवाह के प्रसंगों को विस्तारपूर्वक उपस्थित करके रामकथा में नई वृद्धि की। परन्तु तुलसी के बाद कोई बड़ा परिवर्तन रामकथा में आता दिखलाई नहीं पड़ता

आधुनिक युग में राम-सीता का वही रूप नहीं रह सका जैसा पिछले काव्य में था। प्राचीन काव्य में राम-सीता या तो नायक-नायिका हो सकते थे, या अवतारी अलौकिक शक्तियाँ। आधुनिक युग में नायक नायिका जैसे प्रसंगों को गर्हित माना गया और जहाँ तक संभव होता कवि प्रेम और वासना के रंगों से अपने आंचल बचाये चलता। अवतारवाद के ऊपर जन-साधारण की

आस्था बराबर कम हो रही थी। फलतः मध्ययुग की भाँति ब्रह्म पर राम या विष्णु के अवतार राम को काव्य का विषय नहीं बनाया जा सकता था। फल यह हुआ कि कवियों को युग के अनुसार नये राम की मूर्ति गढ़ना पड़ी। आधुनिक युग में जिन कवियों ने रामकथा में मौलिकता का प्रवर्तन किया और युग के अनुरूप उन्हें नई स्थिति दी, उनमें हरिऔध और मैथिलीशरण अग्रगण्य हैं। इनमें भी गुप्तजी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

'साकेत' में कथानक में कई नई मौलिकताओं का समावेश हो गया है—

(१) 'साकेत' का अर्थ है अयोध्या। प्राचीन अंक-नाटकों की तरह गुप्तजी सारी रामकथा को 'साकेत' तक ही सीमित कर देते हैं। इससे कथा में नाटकीयता तो आ जाती है, परन्तु इससे कथा का स्वरूप बिगड़ जाता है।

(२) 'साकेत' की कथावस्तु विवाह के बाद अयोध्या के राज-भवन से आरम्भ होती है। चारों भाई और उनकी पत्नियों के प्रौढ़ चित्र से ही हम पहले-पहल परिचित होते हैं।

(३) 'साकेत' की मुख्य विशेषता उसका कौटुम्बिक चित्र है। अब तक जितनी रामकथा लिखी गई है, उसमें राम अपौरुषेय और अतिमानव हैं। वैष्णव होने के नाते गुप्तजी राम को अवतारी पुरुष मानते हैं, परन्तु मूलरूप से कथानक में राम अवतारी पुरुष नहीं हैं। वे अपने कुटुम्ब में पूरी तरह प्रतिष्ठित हैं। साकेत के अधिकांश भाग में साकेत के कौटुम्बिक जीवन को ही उभारा गया है।

(४) इस कौटुम्बिक चित्र के बीच में ऊर्मिला प्रतिष्ठित है। उसी के विनोदी चरित्र को लेकर कथा आरंभ होती है और नवें सर्ग में उसी की विरह-वेदना को अत्यंत व्यापक रूप मिला है।

(५) दशम सर्ग तक अयोध्याकांड तक की सारी कथा ही समाप्त होती है। शेष कथा केवल दो सर्गों में समाप्त कर दी जाती है। अरण्य से लेकर लंका तक की सारी कथा भरत हनुमान के मुँह से सुनते हैं। इस प्रकार कथा में मौलिकता तो आ जाती है परंतु उसका रूप खुल नहीं पाता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साकेत की लगभग सारी कथा एकमात्र अयोध्याकांड पर आश्रित है और उसी में कवि की प्रतिभा प्रगट हुई है। वाल्मीकि और तुलसी में भी अयोध्याकांड में रामकथा का विशेष विस्तार मिलेगा, परंतु राम के मर्यादा-रूप, उनके शौर्य, उनकी राक्षसबध-लीला इत्यादि को छोड़कर राम का पूर्णमानव रूप भली भाँति प्रकाशित नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि इन मार्मिक स्थलों को हनुमान के मुँह से कहला कर गुप्तजी राम के चरित्र को उस धरातल पर नहीं उठा सके जिस धरातल पर वाल्मीकि और तुलसी में वह उठा हुआ है। कथा साकेत के वर्णन से आरम्भ होती है—

देख लो, साकेत नगरी है यही;
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु-पट अंचल सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे:
सोहती हैं विविध शालाएँ बड़ीं,
छत उठाये भित्तियाँ चित्रित खड़ीं।
गेहियों के चारु-चरितों की लड़ीं,
छोड़ती हैं छाप, जो उनपर पड़ीं।
स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत घर बने,
इन्द्रधनुषाकार तोरण हैं तने।
देव-दम्पति अट्ट देख सराहते,
उतर कर विश्राम करना चाहते।

फूल-फल कर, फैल कर जो हैं बढ़ी,
दीर्घ छज्जों पर विविध बेलें चढ़ी।
पौरकन्याएँ प्रसून-स्तूप कर,
वृष्टि करती हैं यहीं से भूप पर,।
••• ••इत्यादि।

प्रभात होता है। ऊर्मिला जाग गई है। पिंजरस्थ कीर से बात कर रही है कि पीछे से लक्ष्मण आ जाते हैं। ऊर्मिला और लक्ष्मण के व्यंग-विनोद का बड़ा सुन्दर चित्र कवि ने यहाँ दिया है। ऊर्मिला कीर से पूछती है—'रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा ? इसी समय लक्ष्मण आ पहुँचते हैं—

पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी,
और बोले—"लो, बता दूँ मैं अभी।
नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।"
यों वचन कह कर सहास्य विनोद से,
मुग्ध हो सौमित्रि मनके मोद से।
पद्मिनी के पास मत्त मराल-से,
हो गये आकर खड़े स्थिर चाल से।
चारु चित्रित भित्तियाँ भी वे बड़ीं,
देखती ही रह गई मानों खड़ीं।
प्रीति से आवेग मानो आ मिला,
और हार्दिक हास आँखों में खिला।
मुस्करा कर अमृत बरसाती हुई,
रसिकता में सुरस सरसाती हुई,

ऊर्मिला बोली—"अजी, तुम जग गये !
स्वप्न निधि से नयन कब से लग गये !"
"मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ !"
गत हुई संलाप में बहु रात थी,
प्रथम उठने की परस्पर बात थी।
"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं !"
"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं !"
"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए,
योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए !"
"धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता,
मोहनी-सी मूर्ति, मंजु - मनोज्ञता।
धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ,
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"
"दास बनने का बहाना किस लिये !
क्या मुझे दासी कहानी, इसलिए !
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो अहो !"
उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही,
तब कहा सौमित्रि ने कि "यही सही।
तुम रहो मेरी हृदय देवी सदा,
मैं तुम्हारा हूँ प्रणयसेवी सदा।"

इस प्रकार के चुहल-पूर्ण वाग्विलास लक्ष्मण और ऊर्मिला के चरित्रों का नया रूप दे देता है। रामकथा में ऊर्मिला की एक झाँकी भी नहीं है। गुप्तजी ने 'साकेत' में उसका जो चित्र खड़ा किया है वह इस दृष्टि से अभिनंदनीय है। इस हमारे

आधुनिक युग में हम प्राचीन चरित्रों को साधारण मानवता के भीतर से ही देखना चाहते हैं। अपने पौराणिक और महाकाव्यात्मक चरित्रों में गुप्तजी ने यही विशेषता रखी और इसी से उनके काव्य लोकप्रिय हो सके। अपनी वैष्णव भक्ति-परंपरा को निभाते हुए भी वह यह कर सके, यह उनके लिए श्रेय की बात है।

द्वितीय सर्ग में मंथरा-कैकेयी प्रसंग और राजा दशरथ के वरदान की कथा है। इस प्रसंग में जहाँ तुलसी 'गई गिरा मति फेर' कह कर दैवी-संघटना का आश्रय लेते हैं, वहाँ गुप्तजी मंथरा की मनःस्थिति को स्पष्ट करते हैं और कैकयी के मानसिक परिवर्तन के लिए भित्ति तैयार करते हैं। पहले तो कैकेयी मंथरा की बातों पर ध्यान नहीं देती, परन्तु मंथरा की एक बात उसे लग जाती है मंथरा कहती है—

"भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !"

कैकेयी मंथरा को तो दुतकार देती है, परन्तु उसके मन में मंथन चलने लगता है—

गई दासी, पर उसकी बात
दे गई मानों कुछ आघात—
'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !',
पवन भी मानों उसी प्रकार
शून्य में करने लगा पुकार—
'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'
गूँजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान—

'भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'

यहीं से उस विष-वृक्ष का उदय होता है जिसने राजा दशरथ के प्राण ले लिये और राम-लक्ष्मण-सीता को १४ वर्षों तक वनवास के कटु फल चखने पड़े। मंथरा की विजय होती है और कैकेयी सौतिया-डाह में जलने लगती है—

भरत की माँ हो गई अधीर,
क्षोभ से जलने लगा शरीर।
दाह से भरा सौतिया-डाह,
बहाता है बस विष-प्रवाह।
मानिनी कैकेयी का कोप,
बुद्धि का करने लगा विलोप।
और रह सकी न अब वह शांत,
उठी आँधी-सी होकर भ्रांत।
एड़ियों तक आ छूटे केश,
हुआ देवी का दुर्गा-वेश।
पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त,
उसे कर डाला अस्त-व्यस्त।
तोड़ कर फेंके सब शृङ्गार,
अश्रुमय-से थे मुक्ता-हार।

उधर राजमहलों में अभिषेक के साज सजाये जा रहे थे और इधर कैकेयी पर मंथरा के विष-मंत्र का प्रभाव बराबर अधिक होता जाता है—

उठी तत्क्षण कैकेयी काँप,
अधर-दंशन करके कर चाँप।
भूमि पर पटक-पटक कर पैर,

"
लगी प्रकटित करने निज बैर।
अंत में सारे अंग समेट,
गई वह वहीं भूमि पर लेट।

कोपभवन में लेटी कैकेयी की मनोव्यथा को गुप्तजी ने जितना समझा है, उतना अन्य रामकथाकारों ने नहीं। उन्होंने जो लिखा है, वह काव्यतत्त्वों से तो पुष्ट हो है, मनोविज्ञान के भीतर से भी उतना ही पुष्ट है। कोप-भवन में पड़ी कैकेयी का बड़ा सुन्दर चित्रण कवि ने उपस्थित किया है—

न पाकर मानों आज शिकार,
सिंहनी सोती थी सविकार।
कोप क्या इसका यह एकान्त,
प्राण लेकर भी होगा शान्त!
कुशल है यदि ऐसा हो जाय,
भूप-मुख से निकला बस—'हाय!'
टूट कर यह तारा इस रात,
न जाने, करे न क्या उत्पात!
पड़ी थी बिजली-सी विकराल,
लपेटे थी घन-जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप,
अवनिपति उठे अचानक काँप।

इसके बाद गुप्तजी ने राजा दशरथ के स्त्रैण रूप का सुन्दर चित्रण किया है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने भी दशरथ को कामुक, दुर्बल और स्त्रैण चित्रित किया है, परन्तु इस चित्रण को अधिक विस्तार न देकर राम के पिता की मर्यादा की रचा की गई है। गुप्तजी ने इस प्रसंग को विस्तारपूर्वक लिखा है। इससे एक बड़ी हानि यह हुई है कि इससे वृद्ध दशरथ की

दुर्बलतायें बढ़ गई हैं। गाँधीजी ने अपने एक पत्र में साकेत के दशरथ की इस दुर्बलता की ओर इशारा करते हुए ठीक ही कहा है कि हम राम के पिता को इतना नीचा गिरा नहीं देखना चाहेंगे। परन्तु तुलसी ने इस प्रसंग में राजा को मौन रख कर केवल उपमा-उत्प्रेक्षाओं द्वारा उनकी मनोव्यथा को दिखला कर जिस काव्यकला का परिचय दिया है, उसका 'साकेत' में अभाव है—

सुनि मृदु बचन भूप हियँ सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥
कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि-फल समय जिमि जतिहि अविद्यानास॥

कैकेयी के कटु वचन पर जहाँ 'साकेत' के दशरथ साधारण मनुष्य की तरह उतनी ही कटूक्ति में उत्तर देते है—

कहा तब नृप ने किसी प्रकार—
"मरो तुम क्यों भोगो अधिकार।
मरूंगा तो मैं अगति-समान,
मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान!
देख ऊपर को अपने आप
लगे नृप करने यों परिताप—
देव, यह सपना है कि प्रतीति?
यही है नर नारी की प्रीति!
किसी को न दें कभी वर देव,
वचन देना छोड़ें नर-देव।

दमन में दुरुपयोग का वास,
किया जावे किसका विश्वास ?
जिसे चिन्तामणि माला जान,
हृदय पर दिया प्रधान स्थान,
अन्त में लेकर यों विषदन्त
नागिनी निकली वह हा हन्त !

वहाँ तुलसीदास के दशरथ अत्यंत धीरता से परिस्थिति सँभालते हैं और एक बार कैकेयी के हृदय परिवर्तन का प्रयत्न करते हैं। वास्तव में अयोध्याकांड के सारे स्थलों में यही सबसे कठिन स्थल है और स्थल पर तुलसी ने मनोविज्ञान और काव्यचातुरी का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। इस प्रसंग को पूरा उद्धृत करने से ही दोनों महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन हो सकेगा—

धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे रायँ।
सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठायँ॥
आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा॥
बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सविनय तासु सोहाती॥
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥
मोरे भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥
अवसि दूतु मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥
लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जियँ करत रहेउँ नृप नीति॥
राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राम मातु कछु कहेउ न काऊ॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गएँ भरत जुबराजू॥

एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमंजस मागा॥
अजहूँ हृदउ जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचेहुँ साँचा॥
कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ रामु सुठि साधू॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अस सुनि मोहि भयउ सन्देहू॥
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥

प्रिया हास रिस परिहरहि मागु बिचारि बिबेकु।
जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेकु॥

जिऐ मीन बरु बारि विहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥
समुझि देखु जियँ प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥
सुनि मृदु वचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई॥
कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥
देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥
रामु साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहचाने॥
जस कौसिलाँ मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिं देउँ करि साका॥

होत प्रातु मुनि बेस धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुझिअ मन माँहि॥

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥
लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाची॥
गहि पद विनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥
माँगु माथु अबहीं देउँ तोही। राम बिरहँ जनि मारसि मोही॥
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती॥

देखी ब्याधि असाधि नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ॥

'साकेत' के कवि ने न इतना विस्तारपूर्वक मनोवैज्ञानिक चित्रण किया, न वे भावना की इतनी ऊँचाई पर उठ सके हैं। व्यथाकुल दशरथ का जो चित्र उन्होंने खींचा है, वह चाहे उन्हें साधारण मानव के धरातल पर उतार दे, किसी प्रकार की मौलिकता हमारे सामने नहीं रखता। उससे न राम के प्रति दशरथ की अलौकिक आसक्ति ही प्रगट होती है, न उनके चरित्र को ही बल मिलता है।—

"हाय ! कल क्या होगा !" कह काँप,
रहे वे घुटनों में मुँह ढाँप।
आपसे ही अपने को आज,
छिपाते थे मानों नरराज !

इसके आगे के कथासूत्र में गुप्तजी ने थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। तुलसीदास के रामचरितमानस में जब महाराज दशरथ मूर्च्छित हो जाते हैं तो कैकेयी स्वयं राम-लक्ष्मण को सचिव (सुमंत्र) के हाथ बुला भेजती हैं। गुप्तजी ने राम के शील के चित्रण के लिए यह एक अवसर पाया है। प्रातः काल होते ही लक्ष्मण राम के चरणों में आकर प्रणाम करते हैं और राम उन्हें साथ लेकर पितृ-वंदना को कैकेयी के भवन में जाते हैं उसी समय दशरथ चेत पाकर ('हा राम') की रट लगाते हैं। राम स्तब्ध हो दौड़ पड़ते हैं। बात क्या है! दशरथ बड़ी कठिनता से अपना मंतव्य कह पाते हैं—

हृदय से भूप ने उनको लगाया,
कहा—"विश्वास ने मुझको ठगाया !"

इसके अंतर कुछ ऐसी प्रसंग-कल्पना है जो दशरथ और लक्ष्मण के चरित्र को कलंकित कर देती है। वह वाल्मीकि के अधिक निकट है। तुलसी ने इस सारे प्रसंग को अत्यंत मर्यादा

से चित्रित किया। उनका काव्यगत संयम ही उन्हें श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। 'साकेत' का कवि इस विषय में मुखर है—

निरखती कैकयी थी भौंह ताने,
चढ़ा कर कोर से दो-दो कमानें!
पकड़ कर राम की ठोढ़ी, ठहर के,
तथा उनका बदन उस ओर कर के!
कहा गत धैर्य होकर भूपवर ने—
"चली है, देख, तू क्या आज करने!
अभागिन! देख, कोई क्या कहेगा?
यही चौदह बरस बन में रहेगा!
विभव पर हाय! तू भव छोड़ती है,
भरत का राम का जुग फोड़ती है!
भरत का भी न ऐसे राज्य होगा,
प्रजा कोपाग्नि का वह आज्य होगा।
मरूँगा मैं तथा पछतायेगी तू,
यही फल अन्त में बस पायेगी तू।

इसी प्रकार लक्ष्मण भी मौन नहीं रह पाते। उनकी गर्जना सुनिये—

"अरे! मातृत्व तू अब भी जताती!
ठसक किसको भरत की है बताती?
भरत को मार डालूँ और तुझको,
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको!
युधाजित आततायी को न छोड़ूँ,
बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ।
बुला ले सब सहायक शीघ्र अपने,
कि जिनके देखती है व्यर्थ सपने।

सभी सौमित्रि का बल आज देखें,
कुचक्री चक्र का फल आज देखें।

तुलसीदास ने इस प्रसंग को अत्यन्त मार्मिकता से स्पष्ट किया है। लक्ष्मण तो वहाँ हैं ही नहीं। सुमंत्र केवल राम को ही लिवा गये हैं—

जाइ दीख रघुबंस मनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥
सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुजंगू॥
समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥
करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुख सुना न काऊ॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी। पूँछी मधुर बचन महतारी॥
मोहि कहु मात तात दुख कारन। करिअ जतन जेहिं होइ निवारन॥
सुनहु राम सबु कारन एहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू॥
देइ कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउ जो कछु मोहि सुहाना॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू। छाँड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू॥
सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु॥

इस प्रकार के इस कठिन अवसर की मर्यादा चित करने में सफल हो जाते हैं। दशरथ अभी मूर्च्छित हैं। राम इस समाचार पर प्रसन्नता दिखाते हैं—आखिर भरत तो भाई ही है न? इस स्थान पर कैकेयी के मनोविज्ञान को तुलसी ने बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है—

रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट सनेहु बनाई॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना॥
तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुख दाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥
पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजसु न होई॥

इन क्रूर वचनों के 'तुलसी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। दशरथ जब मूर्च्छा से जागते हैं, तो उन्हें कुछ कहना नहीं। राम स्वयं उनको प्रबोधन देते हैं। पिता को प्रेम-बस जान कर वे कहते हैं—

तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचितु छमब जानि लरिकाई ॥
अति लघु बात लागि दुख पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता ॥
मंगल समय सनेह बस सोचु परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात ॥
धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगहि होउ रजाई ॥
बिदा मातु सन आवउँ मागी। चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी ॥
अस कहि राम गवनु तब कीन्हा। भूप सोक बस उतरु न दीन्हा ॥

बाल्मीकि के लक्ष्मण जिस प्रकार क्रुद्ध होकर पिता का अपमान करते हैं, उसी प्रकार साकेत के लक्ष्मण भी माता-पिता के प्रति कटु वाक्य कहने से नहीं चूकते—

खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी, हतभागिनी यह,
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा,
न रोको तुम, तभी मैं शांत हूँगा।
बने इस दस्युजा के दास हैं जो,
इसी से दे रहे बनवास हैं जो,
पिता हैं वे हमारे या— कहूँ क्या ?
कहो हे आर्य ! फिर भी चुप रहूँ क्या ?

रामचरितमानस में तुलसीदास ने अपने सारे चरित्रों को संस्कृत करके ही हमारे सामने रखा है, इसी से वह जन-मन

को अधिक ग्राह्य हुआ है। ऊपर के उद्धरण में जिस असंयत प्रलाप को स्थान दिया गया है, वह लक्ष्मण के चरित्र को कुछ भी ऊँचा नहीं उठा। इससे भले ही वे मानव बन जायें, वह हमारे लिए आदर्श नहीं होते। इस प्रकार के असंतुलित वाक्य गौरव के विषय नहीं हैं। लक्ष्मण राम के साथ बन जाने का आग्रह करते हैं और अंत में राम मान भी जाते हैं। बाल्मीकि और तुलसी में यह प्रसंग महाराज दशरथ के सामने नहीं घटित हुआ। गुप्तजी ने इस अवसर पर राजा दशरथ का दैन्य दिखलाया है, वह सचमुच राम के पिता के उपयुक्त नहीं है। वे कहते हैं—

सुनो, हे राम ! तुम भी धर्म धारो,
पिता को मृत्यु के मुँह से उबारो।
न मानो आज तुम आदेश मेरा,
प्रबल उससे नहीं क्या क्लेश मेरा ?

अंत में महाराज दशरथ को उसी तरह कातर छोड़ कर राम-लक्ष्मण प्रासाद के बाहर आते हैं तब सुमंत्र से भेंट होती है। इस थोड़े से परिवर्तन के सिवा बाल्मीकि और साकेत की कथा में कोई विशेष अंतर नहीं। कवि अयोध्या (साकेत) के सारे प्रसंग में तुलसीदास की अपेक्षा आदि कवि का ही अधिक ऋणी है। कदाचित् काव्योपयोगी मार्मिक स्थलों को पहचानने में वह सफल नहीं हो सका है।

चतुर्थ सर्ग में राम-लक्ष्मण माता कौशल्या से विदा ले सीता के साथ बनवास को निकल खड़े होते हैं। तुलसी में यही प्रसंग दो० ५२—दो० ८५ तक चलता है। तुलसी ने इस प्रसंग को जितने विस्तारपूर्वक लिखा है, साकेत का कवि उसे उतना विस्तार नहीं दे सका है। परन्तु उन्होंने इस प्रसंग में संक्षेप में अनेक मौलिक प्रसंगों को छुआ है तो यह है कि गुप्तजी की

प्रतिभा का चमत्कार इस सर्ग में पूर्णरूप से प्रगट हो सका है। तुलसी के इस प्रसंग में तथ्य कथन मात्र है, उसे नाटकीयता का रूप देकर और सुमित्रा उर्मिला के चरित्रों को आगे लाकर गुप्त-जी ने एक अभिनव हृदयग्राही सृष्टि की है। यह सृष्टि देखने योग्य है। कौशल्या-सीता का यह चित्र सारे राम-साहित्य में अनोखा है—

मुख से सद्यः स्नान किये, पीताम्बर परिधान किये,
पवित्रता में पगी हुई, देवार्चन में लगी हुई,
मूर्त्तिमती ममता-माया, कौसल्या कोमल काया,
थीं अतिशय आनन्द युता, पास खड़ी थीं जनकसुता।
गोट जड़ाऊ घूँघट की, बिजली जलदोपम पटकी,
परिधि बनी थी विधु मुख की, सीमा थी सुषमा-सुख की।
भाव-सुरभिका सदन अहा ! अमल कमल-सा वदन अहा !
अधर छबीले छदन अहा ! कुन्दकली से रदन अहा।
साँप खिलाती थीं अलकें, मधुर पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें, उठती थीं छवि की छलकें।
गोल गोल गोरी बाँहें—दो आँखों की दो राहें।
भाग-सुहाग पक्ष में थे, अंचलवद्ध कक्ष में थे।
थीं कमला-सी कल्याणी, वाणी में वीणापाणी।
'माँ ! क्या लाऊँ ?' कह-कह कर—पूछ रही थीं रह-रह कर,
सास चाहती थीं जब जो—देती थीं उनको सब सो।
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी।

× × ×

"इसी समय प्रभु अनुज-सहित, पहुँचे वहाँ विकार-रहित।
जब तक जाय प्रणाम किया, माँ ने आशीर्वाद दिया।
हँस सीता कुछ सकुचाई, आँखें तिरछी हो आई।
लज्जा ने घूँघट काढ़ा, मुख का रंग किया गाढ़ा।

"बहू ! तनिक अक्षत-रोली, तिलक लगा दूँ" माँ बोली
"जियो, जियो, बेटा, आओ, पूजा का प्रसाद पाओ।"

राम बड़े कलापूर्ण ढंग से अपने वनगमन की बात माता से कहते हैं। मा लक्ष्मण से कहती है—देखो तो, राम मुझे डरा रहा है। उन्हें सहसा विश्वास नहीं होता, परन्तु जब अंत में सारा रहस्य उन पर खुलता है, तब वे कैकयी पर क्रोध नहीं करतीं, एक प्रकार की अत्यन्त उदात्त भावना से भर कर वह कहती हैं—

"समझ गई, मैं समझ गई, कैकयी की नीति नई।
मुझे राज्य का खेद नहीं, राम-भरत में भेद नहीं।
मँझली बहन राज्य लेवें, उसे भरत को दे देवें।
पुत्र स्नेह धन्य उनका, दृढ़ है हृदय जन्य उनका।
मुझे राज्य की चाह नहीं, उन पर कुछ भी डाह नहीं।
मेरा नाम न वन जावे, यहीं कहीं रहने पावे—
उनके पैर पड़ूँगी मैं, कहकर यही अड़ूँगी मैं—
भरत-राज्य की जड़ न हिले, मुझे राम की भीख मिले!"

उसी समय वीर क्षत्राणी सुमित्रा प्रवेश करती हैं। उनकी गर्जना साकेत के कवि की नई कल्पना है। वास्तव में सुमित्रा की नई रूप-रेखा इस महाकाव्य का प्राण है। ऊर्मिला के व्यक्तित्व में राधा (गोपी) को गूंथ कर गुप्तजी ने आदि कवि के प्रति जो अन्याय किया है, उसे सुमित्रा के नारी-गौरव-गर्वित चरित्र के निर्माण से धो भी डाला है। वह सचमुच लक्ष्मण की माता हैं। सिंहिनी की भाँति वह गरजती हैं—

सिंही-सदृश क्षत्रियाणी, गरजी फिर कह यह वाणी—
"स्वत्वों की भिक्षा कैसी ! दूर रहे इच्छा ऐसी।
उर में अपना रक्त बहे, आर्य-भाव उद्दीप्त रहे।

पाकर वंशोचित शिक्षा—माँगेंगी हम क्यों भिक्षा !
प्राप्य याचना-वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी।
वीर न अपना देते हैं, न वे और का लेते हैं।
वीरों की जननी हम हैं, भिक्षा-मृत्यु हमें सम हैं।
राघव शांत रहोगे तुम ? क्या अन्याय सहोगे तुम ?
मैं न सहूँगी, लक्ष्मण, तू ! नीरव क्यों है इस क्षण तू !"

राम सुमित्रा को शांत करते हैं। सुमंत्र आते हैं और राम को प्रजा के विद्रोह का भय दिखाते हैं, परन्तु राम किसी प्रकार भी डिगते नहीं। अंत में सुमंत्र उन्हें बल्कल वसन लाकर दे देते हैं जिस समय सीता बल्कल पहरने के लिये हाथ बढ़ाती हैं, उस समय का अत्यन्त मर्मांतक चित्र कवि ने उपस्थित किया है—

"बहू, बहू !" माँ चिल्लाई, आँखें दूनी भर आईं—
"हाथ हटा, ये बल्कल हैं, मृदुतम तेरे करतल हैं।
यदि ये छू भी जावेंगे—तो छाले पड़ आवेंगे।
कोसल-वधू ! विदेह-लली ! मुझे छोड़ कर कहाँ चली ?
वन की काँटों-भरी गली, तू है मानस-कुसुम-कली।
देव ! हुआ तू वाम किसे ? रोको, रोको राम ! इसे।
क्या यह वन में रह लेगी ? तप-वर्षा-हिम सह लेगी ?
सौ कष्टों की कथा कहे, बन की सारी व्यथा रहे,
जब आँधी-सी आवेगी—यह सहसा उड़ जावेगी।"

राम सीता को समझाते हैं, परन्तु सीता राम के साथ चलने का आग्रह करती हैं—परन्तु इस आग्रह में उर्मिला के हृदय पर क्या बिजली गिराई होगी (सुमित्रा के साथ ऊर्मिला भी वहीं चली आई थीं) यह दिखाना भी कवि नहीं भूले—

सीता और न बोल सकीं, गद्गद कण्ठ न खोल सकीं।
उधर ऊर्मिला मुग्ध निरी—कह कर "हाय !" धड़ाम गिरी।

लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये, सब ने दो-दो बूँद दिये।
कहा सुमित्रा ने—"बेटी ! आज यहीं पर तू लेटी।"
"बहन ! बहन !" कह कर सीता, करने लगीं व्यजन सीता।
"आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा।"
माताएँ थीं मूर्ति बनी, व्यग्र हुए प्रभु धर्मधनी।
युग भी कम थे उस क्षण से, बोले वे यों लक्ष्मण से।
"अनुज, मार्ग मेरा लेकर, सङ्ग अनावश्यक देकर,
सोचो अब भी तुम इतना—भंग कर रहे हो कितना ?
हठ करके प्यारे भाई, करो न मुझको अन्यायी ;"
"हाय आर्य, रहिए, रहिए, मत कहिए, यह मत कहिए।
हम संकट को देख डरें, या उसका उपहास करें ?
पाप-रहित संताप जहाँ, आत्म शुद्धि ही आप वहाँ।
"लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही, मै वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही, हुए वस्तुतः तुम दोही।"
कहा सुमित्रा ने तब यों—"निश्चय पर वितर्क अब क्यों।
जैसे रहें, रहेंगी हम, ठोकर सही, सहेंगी हम।"
उस मूर्च्छिता वधू का सिर, गोदी में रक्खे अस्थिर।
कौसल्या माता भोली, धाड़ मार कर यों बोली—
देववृन्द ! देखो नीचे, मत मारो आँखें मीचे।
जाओ, वत्स ! कहा मैंने, जो आ पड़ा सहा मैंने।

राम बनगमन के अवसर पर साकेत के कवि ने एक और मौलिकता दिखाई है। रामकथाओं में स्वयं अयोध्या की प्रजा का जरा भी उल्लेख नहीं है। राजतंत्रों में प्रजा का कोई महत्व नहीं, चाहे फिर वे राजतंत्र कितने ही उदार क्यों न हों ? हमारे अपने समय में जनता का महत्व अधिक बढ़ा है और इसलिए हमारे कवियों और साहित्यकारों की दृष्टि जनता की

ओर गई है। इस नई भावना के अनुसार ही साकेत में जनता को स्थान मिला है। अयोध्या की प्रजा राम के रथ के आगे सत्याग्रह करने लगती है—वह राम को जाने ही नहीं देगी—राजाज्ञा कैसी ? प्रजा क्या कुछ भी नहीं है ?—

बोले उठे जन—"भद्र, न ऐसा तुम कहो,
देते हैं हम तुम्हें विदा ही कब अहो!
राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।
जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ!"
यों कह पथ में लेट गये बहुजन वहाँ।
अश्व अड़े-से खड़े उठाये पैर थे,
क्यों कि समझते प्रेम और वे बैर थे।

प्रजा को समझा-बुझा कर ही रामचन्द्र आगे बढ़ने पाते हैं। इस अवसर पर युग के अनुकूल ही कवि ने रामचंद्र को जन्मभूमि के आगे प्रणत कराया है—

"जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे;
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।
तेरे कीर्ति-स्तम्भ, सौध, मन्दिर यथा—
रहें हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा।
जाते हैं हम, किन्तु समय पर आयँगे;
आकर्षक तक तुझे और भी पायँगे।"

राम अयोध्या से चल देते हैं। आगे के प्रसंग को कवि परंपरागत ढंग से ही चित्रित करते हैं, परन्तु अनेक नवीनताओं का समावेश उन्होंने किया। यह उनके लिए गौरव की ही बात है। विशेषकर, राम के कौटुम्बिक जीवन के चित्र राम-काव्य में पहली बार इसी कवि में मिलते हैं। कैकेयी के लांछित

चरित्र को भी, इसी कवि द्वारा पहली बार पूर्ण महानुभूति मिली है। तुलसीदास तो राम-भक्त के नाते कैकेयी के प्रति विशेष रूप मे क्रुद्ध हैं। साकेत के कवि ने एक पुत्र स्नेह पर कैकेयी की सारी भावनाओं को केंद्रित करने की चेष्टा की है। ननिहाल से लौट कर जब भरत आते हैं और माता के मुँह से सारा कुसमाचार सुन कर सशङ्कित जैसे हो जाते हैं, तो कैकेयी का हृदय चिल्ला पड़ता है—

केकयी चिल्ला उठी सोन्माद—
"सब करें मेरा महा अपवाद,
किन्तु उठ ओ भरत, मेरा प्यार,
चाहता है एक तेरा प्यार।
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे बाल,
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल।
दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप,
दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप।"

चाहे स्वार्थ से ही संचालित सही, इस मातृस्नेह के कारण कितना बड़ा कांड हुआ, जब इसकी अनुभूति कैकेयी को होती है, तो वह अनंत दिग्दाह से जलने लगती है। उधर भरत शत्रुघ्न को लेकर माता कौशल्या के पास जाते हैं। कितना हृदय विदारक दृश्य है :—

युगल कण्ठों से निकल अविलम्ब
अजिर में गूँजी गिरा—"हा अम्ब!"
शोक ने ली अफर आज डकार—
वत्स हम्बा कर उठे डिडकार!
सहन कर मानों व्यथा की चोट
हृदय के टुकड़े उड़े सस्फोट—

"तुम कहाँ हो अम्ब; दीना अम्ब,
पतिविहीना, पुत्र-हीना अंब।
भरत—अपराधी भरत है प्राप्त,
दो उसे आदेश अपना आप्त।"

महाराज दशरथ के दाहसंस्कार के बाद भरत चित्रकूट चल देते हैं। अयोध्याकांड के उत्तरार्ध में तुलसी ने इस प्रसंग का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही विस्तृत वर्णन साकेत में मिलता है। केवल चित्रांकन-शैली मे आधुनिकता विषय को नवीन बना देती है। चित्रकूट में सभा भी जुड़ती है—परंतु, जिस प्रकार 'मानस' में विदेह (जनक) इस अवसर पर आ जाते हैं, उस प्रकार की योजना यहाँ नहीं हैं। हाँ, भरत, सभासदों और ऋषियों का राम से तर्क-वितर्क अवश्य है। 'पंचवटी' में गुप्तजी ने जिस बनवैभव के बीच राम-लक्ष्मण की स्थापना की थी, साकेत के इस अष्टम सर्ग में वही बनवैभव सारी प्रौढ़ता के साथ मिलेगा। सीता स्वयम् बनदेवी बनी है। वास्तव में साकेत का यह प्रसंग अत्यंत हृदयग्राही है। सीता का चित्रण देखिये—

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अंकुर-हितकर थे कलश—पयोधर पावन,
जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन मन भावन।
पहने थीं दिव्य-दुकूल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह—सग ही जैसे।
कर, पद मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रकट-से!
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके।

मुख, घर्म-बिन्दु-मय ओस-भरा अंबुज-सा,
पर कहाँ कंटकित नाल सुपुलकित भुज-सा ?
पाकर विशाल कच-भार एड़िया फँसती,
तब नखज्योति मिष, मृदुल अँखुलियाँ हँसती।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों से सुहास-सा झरता!
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते,
पद-पद्मों में मञ्जीर-मराल मचलते।
रुकने-झुकने में ललित लंक लच जाती,
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।
तनु गौर केतकी-कुसुम-कली का गाभा,
थी अंग-सुरभि के संग तरंगित आभा।

चित्रकूट में हम एक बार फिर कैकेयी को देखते हैं, परन्तु अब वह अंतःपुर वाली कैकेयी नहीं है। पुत्र के सिंहासन-त्याग ने उसकी आँखे खोल दी हैं। इस अवसर पर कैकेयी के चरित्र को साकेत के कवि ने ऐसी दाम दी है, जो भुलाई नहीं जा सकती। कैकेयी के भीतर कैसा भयंकर वात्याचक्र चला होगा, इसकी कल्पना न आदिकवि की लेखनी ने की, न भक्त तुलसीदास ने। वे राम-सीता की मर्यादामयी मूर्ति से ही आतंकित रहे। रामचरित के अतिरिक्त भी रामायण के कुछ उदात्तचरित्र कल्पित हो सकते हैं, यह साकेत के कवि को ही सूझा। उन्होंने लक्ष्मण, कैकेयी, भरत, माण्डवी, सुमित्रा और शत्रुघ्न को नये प्रकाश में देखा। वास्तव में वे राम के ही कवि नहीं रहे, राम के कुटुम्ब के कवि बन गये। कौटुम्बिक चक्र के भीतर भी राम, भरत, ऊर्मिला और सुमित्रा के चरित्रों का सर्वोच्च विकास संभव था, परन्तु राम-सीता को ब्रह्म और ब्रह्म की प्रकृति (शक्ति) मानने वाले ज्ञानी और भक्त कवि इस कौटुम्बिक दुर्घटना का ठीक-ठीक मूल

नहीं आँक सके। उन्होंने राम और सीता की भावना को इतने ऊँचे शिखर पर बिठा दिया कि और चरित्र एकदम फीके पड़ गये। कुछ चरित्रों की ओर तो उन्होंने ध्यान भी नहीं दिया। 'साकेत' के कवि ने पहली वार ऐसे चरित्रों का उद्धार किया।

चित्रकूट की सभा में भरत अपने को लांछित करते हैं तो राम उन्हें आश्वस्त करते हैं। उस समय कैकेयी बोल उठती है—

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।"
चौंके सब सुन कर अटल केकयी स्वर को।
सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा,
वह सिंही अब थी हहा! गोमुखी गंगा—
"हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर, भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।"

कैकेयी के इन शब्दों में कितनी वेदना है, कितना अभाग्य है! नाटकीयता और मनोवैज्ञानिक चित्रण का इतना सुन्दर सामञ्जस्य अन्य किसी स्थल पर मिलना कठिन है। केवल इसी स्थल की मार्मिकता की रक्षा करके साकेत के कवि महाकवि की पदवी प्राप्त कर लेते—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुनें जीव यह मेरा,
'धिक्कार' उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

इस प्रसंग में राम के चरित्र को हम अत्यंत उच्च कोटि तक उठा पाते हैं। मानवीय स्वभाव के भीतर से ही जो मानव बड़ा है, वही महामानव है। महामानव ही तो ईश्वर है। इसी से ग्रंथारंभ में साकेत का कवि निश्चित रूप से पूछता है—

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?

और इस विषय में उसे कुछ भी द्विधा नहीं है। साकेत के राम न अवतारी राम हैं, न ब्रह्म हैं, न भक्तवत्सल, भूमि-भार-हारी अतिमानव हैं। वह केवल मानव रूप में हमारे सामने आते हैं और उसी रूप में हमें मोह लेते हैं। कैकेयी राम से लौटने की अनुनय-विनय करती है, तो पुत्र भावप्रवण राम से रहा नहीं जाता—

हा मातः, मुझको करो न यों अपराधी,
मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी।
कहती हो तुम क्यों अन्य तुल्य यह वाणी,
क्या राम तुम्हारा पुत्र नहीं वह मानी?
इस भाँति मना कर, हाय, न मुझे रुठाओ,
जो उठूँ न मैं, क्यों तुम्हीं न आप उठाओ।
वे शैशव के दिन आज हमारे बीते,
माँ के शिशु क्यों शिशु हीन रहे मनचीते।
तुम रीझ-रीझ कर प्यार जनातीं मुझको,
हँस आप रुठातीं, आप मनातीं मुझको।
वे दिन बीते, तुम जीर्ण दुःख की मारी,
मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी।

अब उठा सकोगी तुम न तीन में कोई।"
"तुम हलके कब थे?"—हँसी केकयी, रोई!

चित्रकूट प्रसंग में एक नवीनता कवि ने यह रखी है कि वहाँ जनक के आने का केवल इंगितमात्र दे दिया जाता है, सभा-प्रसंग में उनकी उपस्थिति अनावश्यक समझी गई है। इस इंगित की कोई विशेष सार्थकता नहीं है, पता नहीं कवि ने इसकी आवश्यकता क्यों समझी। केवल अष्टम सर्ग की ये अंतिम पंक्तियाँ इस बात की सूचना देती हैं—

एक घड़ी भी बीत न पाई
बाहर से कुछ वाणी आई।
सीता कहतीं थीं कि "अरे रे,
आ पहुँचे पितृपद भी मेरे।"

तुलसी ने जनक के आने और वाद-विवाद में भाग लेने का विशद चित्रण किया है। इस प्रसंग के समावेश से एक नई तरह की गम्भीरता कथा में आ गई है। साकेत में मिथिला को कोई स्थान नहीं मिला है और एक उपयोगी स्थल अछूता रह गया है। कदाचित् तुलसी की अपेक्षा मौलिक और आधुनिक होने के गुण से यह उपेक्षा हुई है। जो हो, इससे चित्रकूट प्रसंग की गम्भीरता कुछ कम अवश्य हुई है।

नवें और दसवें अध्याय में कवि ने उर्मिला के वियोग की कथा कही है। नवें सर्ग में कुछ मुक्तक गीत हैं जिनमें वियोग के अनेक पक्षों को काव्य का विषय बनाया गया है। दसवें अध्याय में सरयू के तट के प्रासाद की खिड़की खोल कर चाँदनी रात में विरहिणी उर्मिला अतीत के चित्र दोहराती है। दसवें अध्याय में हमें केवल सीता- उर्मिला की जनक-गृह की झाँकियाँ मिलती हैं और हम रामकथा के पूर्वभाग से परिचित होते हैं।

इस प्रसंग में कोई नवीनता नहीं है। परन्तु नवाँ सर्ग नितांतः नवीन है। इस पर कवि का मोह भी अधिक जान पड़ता है। वास्तव में साकेत की केन्द्र उर्मिला ही है और इसी कारण इस नवें प्रसंग की विशद योजना हुई है। इस सर्ग में उर्मिला का कोई नया चरित्र हमें नहीं मिलता। वह केवल प्रोषित पतिका नायिका के रूप में हमारे सामने आती है। कदाचित् सूर-सागर की राधा कवि के सामने है। सूरसागर में जिस प्रकार राधा और गोपियों के विरह दुख का गीतात्मक चित्रण है, उसी श्रेणी का चित्रण हमें यहाँ भी मिलेगा। साहित्य और कला की दृष्टि से 'साकेत' का यह अंश महत्वपूर्ण है, परन्तु रामकथा के उदात्त रूप का ध्यान रखते हुए यह नया प्रसंग लांछित ही हुआ है। लक्ष्मण जैसे व्रती की भार्या के नाते 'साकेत' की उर्मिला का दिवारात्रि रुदन अत्यंत हास्यास्पद हो जाता है—कम से कम उसको उतना विस्तार तो नहीं दिया जाना चाहिये था, जितना विस्तार 'साकेत' के कवि ने उसे दिया है। इससे रामकथा की उच्च भावना भूमि को धक्का लगा है। उर्मिला काव्य की उपेक्षिता अवश्य है, परंतु विशेष ध्येय को सामने रखने के कारण ही पूर्व के कवि उसके संबंध में मौन हैं। अपने आदर्श चरित्रों से हट कर वह और कहीं नहीं जाते। परंतु आधुनिक युग में दु:खितों और उपेक्षितों के प्रति जो महान् सहानुभूति उमड़ आई है, वह कर्तव्य-अकर्तव्य की बात नहीं देखती। वह अत्यंत निम्न कोटि की अति-भावुकता से ग्रसित है। जहाँ संयम और मौन ही कविता है, वहाँ मुखरता कलाकार की सबसे बड़ी भूल है।

एकादश और द्वादश सर्ग में शेष कांडों की कथायें हैं। एक तरह से पहले सर्ग में केवल अयोध्या की कथा कह कर कवि अत्यंत विद्युत गति से आगे बढ़ता है। इसके लिए उसे एक नई योजना करनी पड़ती है। नन्दिग्राम में भरत तापस वेश में

शत्रुघ्न से राजकाज की बातचीत करते दिखाये गये हैं। वहीं पर उनसे राम के गोदावरी वास तक का संवाद सुनाते हैं। इतने में आकाश मार्ग से कोई जाता दिखाई देता है और राक्षस समझ कर भरत उसे शर से बेध देते हैं। उनके 'राम राम' कहने से चकित हो सब उनकी सुश्रुषा करते हैं और होश में आकर मारुति उनसे शेष कथा कहते हैं। संजीवनी बूटी की योजना भी नन्दि-ग्राम में हो गई है। हिमालय के कोई ऋषि-मुनि संजीवनीका एक लता भरत को दे गये हैं। कथा समाप्ति पर हनुमान उस बूटी को लेकर योग-द्वारा अपने शरीर को हल्का कर लौट जाते हैं। इस प्रकार सारी उत्तर रामकथा एक ही सर्ग में आ जाती है। अब तक जो स्वाभाविक मानवता की धारा कथा में बह रही थी, वह इस अति-मानवता के स्पर्श से खंडित हो जाती है, कदाचित् कवि ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

बारहवें (द्वादश) सर्ग में थोड़ी नवीनता और है। यह सम्वाद महल में पहुँचता है। राम-लक्ष्मण-सीता की यह विपत्ति सुन कर सुमित्रा वीरदर्प से भर जाती है। वह शत्रुघ्न को ललकारती है। सारी साकेत-नगरी युद्ध साज से सुसज्जित हो जाती है। सुमित्रा शत्रुघ्न का टीका करके उन्हें रण के क्षेत्र में भेजना चाहती है। महान रण का साज सजता है। शत्रुघ्न सेना के सम्मुख वीरों के गौरव के गीत गाते हैं और उन्हें लंका लूटने का आहवान करते हैं। तभी उर्मिला आती है। वह स्वयं नेतृत्व के लिये तैयार है।

तभी वशिष्ट आ जाते हैं। वे सारे साकेत-वासियों को दिव्य दृष्टि दे देते हैं। लङ्का का युद्धस्थल साकेतवासियों की आँखों के आगे सजीव हो उठता है। अंत में वशिष्ट पुरवासियों को राम के स्वागत के लिये तैयारी करने को कहते हैं। राम आते हैं।

चौदह वर्षों के बाद माता-पुत्र, प्रणयी-प्रणयी मिलते हैं। लक्ष्मण ऊर्मिला के एकांत-मिलन के साथ कथा का पटाक्षेप होता है।

जैसा हम पहले कह आये हैं, साकेत की कथा मुख्यतः अयोध्याकांड की कथा है। 'साकेत' का अर्थ ही 'अयोध्या' है। परन्तु कवि ने यह चाहा है कि प्राचीन ग्रीक-नाटककारों की भाँति सारी राम-कथा को अयोध्या में ही समाप्त कर दे। चित्र-कूट उसे अवश्य जाना पड़ा, परन्तु वह इसके लिये विवश था। हो सकता है, दसवें सर्ग के बाद शेष राम-कथा को लिखने की शक्ति कवि में न रही हो और उसने कई नई योजनाओं के द्वारा उससे छुटकारा पाने का ढंग पा लिया हो। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे राम के चरित्र को हानि पहुँची है और हम उसके सम्पूर्ण रूप से परिचित नहीं हो पाते। अन्य कांडों में अनेक महान् प्रसंग हैं। 'साकेत' के कवि के लिये उनका द्वार बंद है। इस प्रकार 'साकेत' का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। राम-कथा की केवल 'अयोध्याकांड' की सामग्री का ही उसमें समावेश हो सका है।

परन्तु इस सीमित क्षेत्र में अनेक प्रकार की मौलिकताओं का संघटन करने का श्रेय 'साकेत' के कवि को है। ये मौलिकताएँ हैं—

(१) लक्ष्मण और ऊर्मिला का प्रेमी जीवन जिसमें ऊर्मिला के विप्रलंभ का नवें-दसवें सर्गों में विशद वर्णन है।

(२) 'साकेत' का कौटुम्बिक जीवन

(३) कैकयी का मनोविज्ञान

(४) सुमित्रा का वीर क्षत्राणी रूप

(५) भरत और राम के चरित्रों का विकास यद्यपि इसमें विस्तार ही है विशेष परिवर्तन नहीं है। उन मौलिकताओं ने

'साकेत' की राम-कथा को एक नया वैज्ञानिक रूप दे दिया है। तुलसी के रामचरितमानस की महत्ता का एक बड़ा श्रेय उनके अयोध्या-कांड को ही मिलेगा। पूर्वभाग में कैकेयी और दशरथ के मानसिक संघर्ष को उन्होंने अत्यन्त काव्योपमेयता से वर्णित किया है। उत्तर भाग को तो भरत-चरित्र ही कहना चाहिये। तुलसी की मौलिकता, उनके मनोविज्ञान, उनकी काव्यशक्ति, उनकी भक्ति—सभी अत्यन्त उदात्त रूप में रामचरितमानस के अयोध्याकांड में विराजमान हैं। लगता है, कहने को कुछ शेष रह ही नहीं गया है। सचमुच, तुलसी के बाद आज तक अयोध्याकांड को छूने का साहस किसी कवि को नहीं हुआ, वह इतना पूर्ण था। 'साकेत' में कवि की प्रतिभा ने नये वातायन खोले हैं। इसके लिए वह धन्यवाद का पात्र है। तुलसी की सारी कथा राम-भक्ति से ओत-प्रोत है। वह राम के दो पक्ष लेकर चलते हैं। आध्यात्मिक पक्ष लौकिक पक्ष से ऊँचा रहता है और इसलिए राम मानवेतर ही रहते हैं। 'साकेत' के कवि ने भक्ति का प्रदर्शन नहीं किया है। उनके राम नरलीला नहीं करते, वे आदर्श नर, आदर्श मानव मात्र हैं। भक्तिभावना के कारण राम पर ही तुलसी की दृष्टि अधिक रहती है। यह उनकी अपनी सीमा है। राम के इतने बड़े कुटुम्ब को साथ लेकर वे नहीं चलते। साकेत के कवि ने राम के कुटुम्ब को साथ लिया है। इससे राम-कथा की मानव-भूमि और भी दृढ़ हो जाती है। ऊर्मिला, सुमित्रा, माण्डवी, श्रुतिकीर्ति, शत्रुघ्न—इन सब का मानस में उल्लेख मात्र है। इन सब चरित्रों में प्राण-प्रतिष्ठा करना सरल बात नहीं थी परन्तु गुप्तजी इसमें सफल हुए हैं। उनकी मौलिकता ने जहाँ इन नये पात्रों की प्राण-प्रतिष्ठा की है, वहाँ अन्य परंपरागत पात्रों को भी नई दिशाएँ दी हैं। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है मनोविज्ञान का नया रूप

जिसकी उन्होंने साकेत में प्रतिष्ठा की है। कैकेयी इस नये मनोविज्ञान का केन्द्र है। सच तो यह है 'साकेत' की सारी कथा कैकेयी के स्वप्नभङ्ग की कथा है। वही 'साकेत' की नायिका है। परंपरागत दृष्टि से भले ही ऊर्मिला साकेत की नायिका कही जाय, 'साकेत' कैकेयी की मूर्च्छा और जागृति की कहानी है।

चरित्र-चित्रण

'साकेत' में राम-कथा के केवल कुछ ही चरित्रों का विशद वर्णन है। शेष चरित्र उल्लेख मात्र हैं, या उनकी रेखाएँ पुष्ट नहीं हो सकी हैं। लक्ष्मण-ऊर्मिला, राम-सीता, भरत-माण्डवी, शत्रुघ्न-श्रुतिकीर्ति ये तो चार युग्म हुए। शेष रही तीनों माताएँ कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी और दशरथ। अवांतर चरित्रों में वशिष्ठ, जावालि, सुमंत्र और मंथरा हैं, परन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। वास्तव में सारी कथा साकेत के राज कुटुम्ब की ही कथा है और इस राजकुटुम्ब के विशिष्ट पात्रों का ही चरित्र-चित्रण 'साकेत' में मिलेगा।

(१) **राम**—'साकेत' की भूमिका में कवि ने राम के संबन्ध में अपनी ब्रह्मभावना प्रगट की है—

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।

परन्तु चरित्र-चित्रण के समय वह राम का अवतारी रूप एकदम भूल गया है। उसने राम को आदर्श मानव के रूप में ही चित्रित किया है। 'साकेत' के अंत में उसने राम के प्रति यही भाव प्रगट किया है—

अलक्ष की बात अलक्ष जानें,
समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?

रहे वही प्लाविक प्रीति - धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।

यह उक्ति लक्ष्मण की है—परंतु इस विषय में कवि का भिन्न मत नहीं है।

राम के कर्तव्यपरायण पुत्र, प्रजाभक्त युवराज शांत प्रकृति युवक, प्रेमी भाई और सुख दुख में एक समान अत्यन्त उदात्त चरित्र के दर्शन हमें होते हैं। अपनी ओर से कवि राम के चरित्र का विशेष विकास भी नहीं कर सका है। वास्तव में राम के चरित्र के अनेक अंग तुलसी के मानस में पुष्ट हो गये हैं। वहाँ वे ब्रह्म के अवतार, भक्तों के प्राण और लोकनायक भी हैं, परन्तु प्रधानतय: आदर्श पुरुष हैं। इसी से कवि अपनी ओर से इस चरित्र में विशेष कुछ जोड़ नहीं सका है। केवल कैकेयी के प्रसंग में राम कुछ और भी ऊँचे उठे दिखाई पड़ता हैं। तुलसी की ईश्वरता उनमें नहीं है तो क्या, वह इतने ऊँचे हैं कि साधारण मनुष्य उनके आगे नतमस्तक ही हो सकता है।

(२) **सीता**—सीता का चरित्र भी मुख्यत: परम्परागत है, परन्तु ऊर्मिला के प्रति उनका स्नेह और बन-प्रकृति के साथ उनका सहज संबन्ध उनके चरित्र में नवीनता का समावेश करते हैं। लक्ष्मण के प्रति कोमल भावना का भी विशेष विस्तार 'साकेत' में हो सका है। उनका चित्रकूट में गाया हुआ गीत तो अष्टम सर्ग का प्राण ही है—

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
सम्राट् स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीस हमें मुनिवर हैं।

धन तुच्छ यहाँ—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुञ्जाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा,
प्रहरी निर्झर परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

× × ×

फल-फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें भरी थालियाँ मेरी।
मुनि बालायें हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी।
क्रीड़ा-सामग्री बनी स्वयं निज छाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
मैं पली पक्षिणी विपिन-कुंज-पिंजर की,
आती है कोटर-सदृश मुझे सुध घर की।
मृदु तीक्ष्ण वेदना एक-एक अन्तर की,
बन जाती है कलगीति समय के स्वर की।
कब उसे छेड़ यह कण्ठ यहाँ न अघाया?
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

उनका कलापूर्ण विनोदी रूप भी स्थान-स्थान पर प्रगट है। चित्रकूट में साकेत-वासियों का वह अतिथि की तरह स्वागत करती हैं। वह लक्ष्मण को ऊर्मिला—विरहिणी ऊर्मिला—से मिलाना नहीं भूलतीं—

गुरु-जन-समीप थे एक समय जब राघव,
लक्ष्मण से बोली जनकसुता साऽ लाघव—
"हे तात, ताल सम्पुटक तनिक ले लेना,
बहनों को बन उपहार मुझे है देना।"
"जो आज्ञा"—लक्ष्मण गये तुरन्त कुटी में,
ज्यों घुसे सूर्यकर निकर सरोज पुटी में।
जाकर परंतु जो वहाँ उन्होंने देखा,
तो दीख पड़ी कोणस्थ ऊर्मिला-रेखा।

सच तो यह है कि 'साकेत' में सीता सजीव हो उठी हैं। आदि काव्य और तुलसीदास में सीता का व्यक्तित्व तनिक भी ऊभर नहीं आया है। जहाँ हैं, राम ही राम हैं—कदाचित् महापुरुष की जीवन-संगिनी होने का मूल्य उन्हें चुकाना पड़ा है। 'साकेत' की सीता हास-चुहलमयी देवरों को प्रिय, सास-ससुर स्नेही, पतिप्राण: गृहलक्ष्मी हैं।

(३) **लक्ष्मण**—'साकेत' की नायिका ऊर्मिला है, इसलिए लक्ष्मण का चरित्र स्वत: प्रधान हो जाता है। 'साकेत' के प्रारंभ और अन्त में लक्ष्मण और ऊर्मिला के मिलन की योजना कर के कवि ने लक्ष्मण-ऊर्मिला को प्रधानता ही दी है।

लक्ष्मण के चरित्र के कई अंग हमें 'साकेत' में मिलते हैं। वे हास-चुहल से भरे सुन्दर प्रेमी के रूप में हमारे सामने आते हैं। ऊर्मिला चित्र बना रही है, परन्तु सात्विक स्वेद के कारण रंग फैल जाता है—

हँस पड़े सौमित्र भावों से भरे,
ऊर्मिला का वाक्य था केवल "अरे।"
रंग घट में ही गया, देखा, रहो,
तुम चिबुक धरने चली थीं, क्यों न हो?"

ऊर्मिला भी कुछ लजा कर हँस पड़ी,
वह हँसी थी मोतियों की-सी लड़ी।
"बन पड़ी है आज तो।" उसने कहा
"क्या करूँ, बस में न मेरा मन रहा।
हार कर तुम क्या मुझे देते कहो ?
मैं वही हूँ, किन्तु कुछ का कुछ न हो।"
हाथ लक्ष्मण ने तुरंत बढ़ा दिये
और बोले—"एक परिरंभण प्रिये!"

सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किंतु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।

अंत में जब ये युगल प्रेमी मिलते हैं तो दूसरा ही ढङ्ग दिखलाई पड़ता है—

"स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे।
किंतु कहां वे अहोरात्र वे साँझ-सबेरे!
खोई अपनी हाय! कहाँ वह खिलीबल खेला!
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती बेला?"

काँप रही थी देह लता उसकी रह-रह कर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह-बह कर।
"वह बीना की बाढ़ गई, उसको जाने दो,
शुचि गंभीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।
धरा धाम को रामराज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय प्रेमपूर्वक लाने दो।"

इसी गंभीर प्रेम ने नवें-दसवें सर्ग की ऊर्मिला के उपयुक्त वीथिका तैयार की है।

लक्ष्मण की दूसरी चारित्रिक विशेषताएँ परम्परागत ही हैं। वह पिता की अवज्ञा करने को तैयार हैं, वह भाई के अधिकार की रक्षा के लिए 'साकेत' में क्रांति मचा देंगे, चित्रकूट में भरत पर वह उसी तरह सन्देह करते हैं जिस तरह परम्परागत राम-कथा में। वही क्रोधी, उद्धत, वीर रूप। तुलसी से अधिक आदि कवि की तूलिका से रंग लेकर लक्ष्मण के ये अंग तैयार किये गये हैं। 'साकेत' के लक्ष्मण तार्किक अवश्य हैं, परन्तु तुलसी के लक्ष्मण की भाँति दर्शन के विषय में उनको विशेष जिज्ञासा नहीं है।

(४) **ऊर्मिला**—ऊर्मिला 'साकेत' की नायिका है, यह हम पहले कह चुके हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक निबन्ध लिख कर ऊर्मिला और महाश्वेता प्रभृति उपेक्षित नायिकाओं के प्रति कवियों और साहित्यकारों का ध्यान खींचा था। हिन्दी कवियों को इस निबंध ने आकर्षित किया। 'साकेत' इसी प्रभाव की उपज है। राम-काव्य की परम्परा से हट कर इस उपन्यास में ऊर्मिला को नायिकात्व दिया गया है।

परन्तु ऊर्मिला के चरित्र में ऐसी किसी बात की कल्पना 'साकेत' के कवि ने नहीं की है जो उसे यह गौरव दे सके। राम-कथा का केन्द्र रामसीता ही हो सकते, भले हो कुछ प्रसंगों में कुछ विशिष्ट पात्रों को बल मिल जाय। तुलसी के रामचरित-मानस के उत्तर अयोध्या में भरत को नायकत्व मिला है। सुन्दरकांड के नायक स्पष्टतः हनुमान हैं। परन्तु सारी रामकथा में राम की ओर से कवि की दृष्टि नहीं हटती। 'साकेत' के कवि ने वियोगिनी ऊर्मिला को अपने महाकाव्य का केन्द्र बनाया है। आरम्भ में वह भी लक्ष्मण की तरह भावुक प्रेमिका मात्र है, परंतु नवें-दसवें सर्ग में विरह की आग में 'तप कर' वह यशोधरा की

तरह ही 'पूत' (पावन) हो उठी है। कालिदास के कुमारसंभव प्रभृत्ति काव्यों में प्रेम का यही उदात्त रूप हमारे सामने आता है। सूरदास ने राधा को भी इसी प्रकार हमारे सामने उपस्थित किया है। यदि केवल इसी प्रेमकथा की परिपाटी को निभाना 'साकेत' के कवि का ध्येय है, तो हमें कुछ नहीं कहना है। इस दृष्टि से द्वादश सर्ग में अयोध्या से राम-लक्ष्मण के लौटते समय की यह उक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

"हाय ! सखी, शृङ्गार ! मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?
मैंने जो वह 'दग्ध वर्तिका' चित्र लिखा है ?'
उसमें तू क्या आज उठाने चली शिखा है ?
नहीं, नहीं, प्राणेश मुझीसी छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीन होते हुए भी ऊर्मिला का चित्र एकांततः नवीन नहीं है। परन्तु एक बड़ा प्रश्न इसके साथ है। क्या व्रती लक्ष्मण की जीवन-संगिनी को इस रूप में दिखाना वांछनीय है। कदाचित् कवि के सामने स्वयं यह प्रश्न उठा है और उसने द्वादश सर्ग में ऊर्मिला को अयोध्या की सेना के सम्मुख वीर क्षत्राणी भेष में उपस्थित किया है। शत्रुघ्न लंका को लूटने की बात कह रहे हैं—

"नहीं, नहीं"—सुन चौंक पड़े शत्रुघ्न और सब,
ऊषा-सी आगई उर्मिला उसी ठौर तब !
[illegible] सती उतरती-सी चढ़ धाईं,
तालपूर्तिसी संग खड्ग भी खिचती आईं,
आ शत्रुघ्न-समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।

जटा-जाल-से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण,घटा में फूट पड़े थे।
माथे का सिंदूर सजग अंगार-सदृश था,
प्रथमातप-सा पुण्य गात्र, यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ निकट था,
दायें कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था।
गरज उठी वह—"नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना•••

पर इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन से कोई भूमि तैयार नहीं की गई है। फलतः ऊर्मिला उन्मादिनी ही जान पड़ती है।

जो हो, ऊर्मिला के चित्रण के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु यदि ऊर्मिला के वियोगिनी रूप को हटा भी दिया जाय, तो भी 'साकेत' में बहुत कुछ रह जाता है और वह बहुत कुछ 'साकेत' के कवि के लिये गौरव की ही बात होगी।

(५) **दशरथ**—दशरथ के चरित्र की कल्पना आदि कवि और तुलसीदास के दशरथ से भिन्न नहीं है। वही स्त्रैणता, वही आत्म-भीरुता। परन्तु तुलसी ने दशरथ के भीतर रामभक्ति के दर्शन किये हैं। उनका संघर्ष पुत्र के प्रति किये गये अन्याय के कारण नहीं है। वह राम के रामत्व की बात जानते हैं। आदि-कवि ने राजनीति का भी थोड़ा पुट इस प्रसंग में दिया है। गुप्तजी ने दशरथ को भीरु, दुर्बल और स्त्रैण तो बनाया है, परन्तु वह मूलतः पुत्र के प्रति कर्तव्य-अकर्तव्य की भावना से शासित है। वह कैकेयी के प्रति कठोर भी हो सकते हैं और उसे व्यंग से जर्जर भी कर सकते हैं। परन्तु उनमें आर्द्रता की मात्रा विशेष है। वह उचित से अधिक भावुक हैं। राम के

योग्य पिता वे नहीं रह पाते—ऐसा गांधीजी का मत कुछ अंशों में ठीक ही है।

(६) **कैकेयी**—वास्तव में 'साकेत' की सब से बड़ी, सब से महत्वपूर्ण कल्पना कैकेयी की है। कैकेयी युगों-युगों से लांछित नारी है। आदिकवि ने वरदानों के प्रसंग को छोड़ कर कहीं भी उसका उल्लेख नहीं किया। तुलसी तो उसके प्रति विशेष रूप से कठोर हैं—उनके आराध्य राम को उसी के कारण तो बन-बन भटकना पड़ा।—'गई गिरा मति फेर' कह कर उन्होंने कैकेयी की लांछना को कम करना चाहा है, परन्तु उनकी रामभावना उनके और कैकेयी के प्रति उनकी सहानुभूति के बीच आ जाती है।

"कैकेयी" का प्रश्न मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। इसी पक्ष से उसे सुलझाया जा सकता है। और इसी पक्ष से उसे सुलझाने का प्रयत्न 'साकेत' के कवि ने किया है। कैकेयी की कथा एक नारी हृदय की मूल पुत्र प्रेम भावना, सपत्नि द्वेष और पुत्र द्वारा तिरस्कृत होने पर प्राणांतक ढंग से टूट जाने की कथा है। कैकेयी के इस नवीन चरित्र-चित्रण के प्रकाश में 'साकेत' के कई चरित्रों में नया जीवन आ जाता है। कैकेयी की आत्म-प्रवंचना उसे कितना दुःख दे रही है। यह चित्रकूट प्रसंग में जाना जा सकता है। तुलसी ने इस प्रसङ्ग में उन्हें मौन रख कर उनके साथ अन्याय ही किया है। 'साकेत' की कैकेयी के प्रति हमारी सदभावनाएँ ही नहीं बनी रहतीं, उसके प्रति हम सच्ची सहानुभूति से भर जाते हैं—वह स्वयं अपने से छली है। दोष न मंथरा का है, न विधाता का। इतना बड़ा आत्मछल, इतनी बड़ी आत्मप्रवंचना भला किस नारी ने सहन की है ?

(७) **कौशल्या**—कौशल्या का चित्रण राम माता के अनुरूप ही हुआ है। 'मानस' की कौशल्या और 'साकेत' की कौशल्या में कोई भेद नहीं है। हाँ कई नई झाँकियाँ हमें मिलती हैं जो उन्हें अत्यंत स्वाभाविक रूप से आदर्श हिंदू गृहस्थ-रमणी के रूप में हमारे सामने उपस्थित करती हैं। कोई छल नहीं, ईर्ष्या नहीं, द्वेष नहीं, सपत्नित्व नहीं। पति के प्रति अंत तक उदार इस महान्मनः नारी के प्रति कौन प्रणत नहीं होगा ? 'साकेत' की कौशल्या के प्रति यही कहना पर्याप्त होता कि वह राम की माता हैं।

(८) **सुमित्रा**—परन्तु सुमित्रा के चरित्र को सामने रखते हुए कवि को अत्यंत मौलिकता और कौशल से काम लेना पड़ता है। न आदि काव्य में सुमित्रा है, न रामचरित्रमानस में। तुलसी की 'गीतावलि' में हमें एक दो पदों में उनके वीर क्षत्राणि रूप का परिचय मिलता है। 'साकेत' में इसी रूप का विकास मिलेगा। वह लक्ष्मण की माता ही है। नारी के अधिकार की माँग के इस युग में सुमित्रा एक अत्यंत अभिनन्दनीय प्रयत्न समझा जायेगा। राम-लक्ष्मण के संकट की बात सुनकर वह सैनिकों को ललकारती हैं—वीर क्षत्राणि के योग्य ही उनका काम है। कौशल्या सुमित्रा को रोकना चाहती हैं—पाश छुड़ाती हुई सुमित्रा तब यों बोली—

"जीजी, जीजी उसे छोड़ दो, जाने दो तुम,
सोदर की गति अमर-समर में पाने दो तुम,
सुख से सागर पार करे यह नागर मानों,
बहुत हमारे लिये यही सरयू का पानी।
जा भैया आदर्श गये तेरे जिस पथ से,
कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अथ से।

जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझ को जैसा,
लौटाती हूँ आज उसे वैसा का वैसा।"

(९) **अन्य पात्र**—श्रुतिकीर्ति और मांडवी में साकेत के कवि ने आदर्श, पतिप्राण, कर्तव्यपरायण क्षत्राणियाँ ही चित्रित की हैं। सुमंत्र, गुह, वशिष्ठ इत्यादि अनेक चरित्रों की रेखाएँ नई आभा से दीप्त हैं, परन्तु प्रसंग गौण होने के कारण इन चरित्रों को इतनी महत्ता नहीं मिल सकी है।

काव्य कला की दृष्टि से साकेत का नवाँ सर्ग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। 'साकेत' के कवि ने इस सर्ग में विशेष रूप से प्रयत्न किया है। अनेक छोटे-छोटे गीतों में विरहिणी के अनेक मनोभावों का अत्यन्त कलापूर्ण चित्रण हम यहाँ पायेंगे। परन्तु अन्य स्थानों में भी साहित्य-रस के श्रेष्ठ रूप के दर्शन हमें मिलेंगे। 'साकेत' मुख्यतः प्रसादात्मक काव्य है, अतः साहित्य और कला की बड़ी-बड़ी उलझनें यहाँ नहीं मिलेंगी। कुछ सहज चित्र देखिये। ऊर्मिला लक्ष्मण के आगे प्रणत है—

चूमता था भूमितल को
अर्द्ध विधु सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग
जाल बन कर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था
प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने
आप पूर्ण सनाथ

'साकेत' का यह चित्र भी दर्शनीय है—

देख लो, साकेत-नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु-पट अंचल-सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर दृग जड़ रहे,
सोहती हैं विविध शालाएँ बड़ी,
छत उठाये भित्तियाँ चित्रित खड़ी।
गेहियों के चारु-चरितों की लड़ी,
छोड़ती है छाप, जो उन पर पड़ी।
स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत घर बनें,
इन्द्रधनुषाकार तोरण हैं तनें,
देव-दम्पति अट्ट देख सराहते,
उतर कर विश्राम करना चाहते।
फूल-फल कर, फैल कर जो हैं बढ़ी,
दीर्घ छज्जों पर विविध बेलें चढ़ी।
पौर कन्याएँ प्रसून-स्तूप कर,
वृष्टि करती हैं यहीं से भूप पर।
फूल-पत्ते हैं गवाक्षों में कढ़े,
प्रकृति से ही वे गये मानों गढ़े।
दामिनी भीतर दमकती है कभी,
चंद्र की माला चमकती है कभी।
सर्वदा स्वच्छंद छज्जों के तले,
प्रेम के आदर्श पारावत पले।
केश-रचना के सहायक हैं शिखी,
चित्र में मानों अयोध्या है लिखी।

इस प्रकार के अनेक सरस, साहित्यिक वर्णन-चित्र इस महाकाव्य में मिलेंगे। सच तो यह है कि 'साकेत' और 'कामायनी'

हमारी पिछली पाँच दशकों की साहित्य-साधना के दो अत्यन्त गौरव-काव्य हैं। उन्हें लेकर हम अन्य प्रांतीय भाषाओं के काव्यों के समकक्ष उपस्थित हो सकते हैं। ऐसा करने में हमें कोई भी लज्जा नहीं होगी। 'साकेत' का महत्व अधिक है—कारण, वह हमारी भारतीय परम्परा से अनेक सूत्रों से जुड़ा हुआ है। कथा-विकास और चरित्र-चित्रण में उसने रामकथा में अनेक अभिनन्दनीय वृद्धियाँ की हैं। उनके लिए भारतीय कवि सदैव साकेतकार का ऋणी रहेगा। रामकथा का और भी विकास होगा, यह निश्चित है, परन्तु 'साकेत' के ही रास्ते चलकर। 'यशोधरा' साकेत के बाद गुप्तजी का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें गुप्तजी उतने महत्वाकांक्षी नहीं हैं जितने 'साकेत में। 'शुल्क' शीर्षक प्राक्कथन में वे लिखते हैं—'भगवान बुद्ध और उनके अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जाँय तो बहुत समझना। और उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राज-भवन की ओर मुझे संकेत किया है।

हाय! यहाँ भी वही उदासीनता! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आंखें चौंधिया गईं और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोधन के शब्दों में यही कहना पड़ा है कि—

"गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको"

कथावस्तु से पाठक परिचित होंगे। 'बुद्ध' की जीवनी ही 'यशोधरा' की कथावस्तु है। परन्तु कवि ने महाकाव्य के रूप में उसकी

कल्पना नहीं की है। शैली की दृष्टि से उसका रूप 'गद्य-पद्य-मय' काव्य (चंपू) का है, परन्तु कथा की अभिव्यक्ति मुख्यतः गीतों के रूप में हुई है।

'मंगलाचरण' में गुप्तजी राम और अमिताभ (बुद्ध) के ऐक्य की घोषणा करते हैं—

राम, तुम्हारे इसी धाम में
नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ,

इसी देश में हमें जन्म दो,
लो प्रणाम हे नीरजनाभ।

धन्य हमारा भूमि-भार भी
जिससे तुम अवतार धरो,

भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुमसे
हमें भक्ति दो, ओ अमिताभ।

'सूरसागर' की तरह इस ग्रंथ की शैली भी गीतात्मक प्रबन्ध-काव्य की शैली कही जा सकती है। बाद को 'कुणालगीत' (१९४२) में भी इसी शैली को ग्रहण किया गया है। इस शैलीमें हृदयग्राही स्थल बड़ी सुन्दरता से स्थान पा जाते हैं। साकेत में विरहिणी ऊर्मिला को प्रधानता दी गई है, यहाँ वियोगिनी गोपा को। साकेत का नवाँ सर्ग अन्य सर्गों की गंभीरता के बीच में उतना सुन्दर नहीं जान पड़ता है। परन्तु जो कथावस्तु ऐसी थी कि उसमें प्रबन्धात्मकता का समावेश आवश्यक था, उसमें लेखक बहुत दूर जा भी नहीं सकता है। 'यशोधरा' में कदाचित् इसी बात को ध्यान में रख कर गुप्तजी ने प्रबन्धात्मक कथा वस्तु को स्थान ही नहीं दिया। बुद्धदेव के महाभिनिष्क्रमण की थोड़ी-सी कथा में प्रबन्धात्मकता भले ही हो, उनकी साधना और गोपा के वियोग-दुःख को केवल गीतों द्वारा ही भली प्रकार अभिव्यक्त किया जा

सकता था। इसी से इस पुस्तक में गीतात्मकता की ओर विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। परंतु चार सर्ग तक गीत लिखकर कवि राहुल और यशोधरा के वार्तालाप और वाद-विवाद में लग गया और उसने पद्य के स्थान पर गद्य को अपना लिया। जिस तरह का संलाप इस सर्ग में है उसे पद्य में उतारना भी असंभव था, विशेषतयः गीतों में। जो हो, यह निश्चित है कि यशोधरा मुख्यतः प्रयोगात्मक-काव्य है। कवि महाकाव्य के एक बड़े विषय को गीतों की भूमि पर उतार रहा है। वह इसमें सफल हुआ है या असफल, यह दूसरी बात है।

'कथासूत्र' शीर्षक से यशोधरा की आधारवस्तु (बुद्धदेव की जीवन-गाथा) को कवि ने स्वयं ही लिख दिया है। यह आवश्यक भी था। गीतों में कथा इतनी बिखर गई है कि संदर्भ का साफ़-साफ़ ध्यान रहे बिना उसे समझना असंभव है। कथा इस प्रकार है—'कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोधन के पुत्र के रूप में भगवान बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी मायादेवी उन्हें जन्म देकर ही मानों कृतकृत्य होकर मुक्ति पा गईं। शुद्धोदन की दूसरी रानी नन्द-जननी महाप्रजावती ने उनका लालन-पालन किया।

उनका नाम सिद्धार्थ और गौतम भी था। सिद्धि-लाभ कर के बुद्ध कहलाये। सुगत, तथागत और अमिताभ आदि और भी अनेक नाम हैं। बालकाल से ही उनमें वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। शिक्षा प्राप्त करने पर उनकी और भी वृद्धि हुई। शुद्धोधन को चिन्ता हुई और उन्हें संसारी बनाने के लिए उन्होंने उनका ब्याह कर देना ही ठीक समझा। खोज

और परीक्षा करने पर देवदह की राजकुमारी यशोधरा ही, जिसे गोपा भी कहते हैं, उनकी बधू बनने योग्य सिद्ध हुई।

यशोधरा के पिता महाराज दंडपाणि ने संबंध स्वीकार करने के पहले वर की विद्या-बुद्धि के साथ उनके बल-वीर्य की भी परीक्षा लेनी चाही। सिद्धार्थ ने शास्त्र-शिक्षा के साथ ही साथ शस्त्र शिक्षा भी ग्रहण की थी। परन्तु शास्त्र की ओर ही पुत्र का मनोयोग समझ कर पिता को कुछ चिंता हुई। तथापि कुमार सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो गये। "टूटत ही धनु भयेहु बिवाहू" के अनुसार यशोधरा के साथ उनका विवाह हो गया।

पिता ने उनके लिए ऐसा प्रासाद बनवाया था जिसमें सभी ऋतुओं के योग्य सुख के साधन एकत्र थे। किसी राग-रंग और आमोद-प्रमोद की कमी नहीं थी। परन्तु भगवान् तो इसके लिए अवतीर्ण हुए नहीं थे। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर उनकी दृष्टि पड़े। परंतु एक दिन एक रोगी को, दूसरे दिन एक वृद्ध को और तीसरे दिन एक मृतक को देखकर संसार की इस गति पर गौतम को बड़ी ग्लानि एवं करुणा आई और उन्होंने इसका उपाय खोजने के लिए एक दिन अपना घर छोड़ दिया। उनके इस प्रयाण को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

तब तक उनके एक पुत्र भी हो चुका था। उसका नाम था राहुल। अभी उसके जन्म का उत्सव भी पूरा न हुआ था कि कपिलवस्तु में उनके गृह-त्याग का शोक छा गया।

रात को अपने सेवक छंदक के साथ कन्थक नामक अश्व पर चढ़ वे चल दिये।

जिस प्रकार रुग्ण, वृद्ध और मृतक को देखकर वे चिंतित थे उसी प्रकार एक दिन एक तेजस्वी सन्यासी को देखकर उन्हें

संतोष भी हुआ था। अपने राज्य की सीमा पर पहुँचकर उन्होंने राजकीय वेश-भूषा छोड़कर सन्यास धारण कर लिया और रोते हुए छन्दक को कपिलवस्तु लौटा दिया। सबके लिए उनका यही सन्देश था कि मैं सिद्धि-लाभ करके लौटूँगा।

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृह में विद्वानों का सत्संग करते हुए गयाजी पहुँचे। राजगृह के राजा बिंबिसार ने उन्हें अपने राज्य का अधिकार तक देकर रोकना चाहा, परन्तु वे तो स्वयं अपना राज्य छोड़कर आये थे। हाँ, सिद्धि-लाभ करके बिंबिसार को दर्शन देना उन्होंने स्वीकार कर लिया। राजगृह से पाँच ब्रह्मचारी भी तप करने के लिए उनके साथ हो लिये थे जो पंचमद्वर्गीय के नाम से प्रसिद्ध हैं। निरंजना नदी के किनारे पर गौतम ने तपस्या आरम्भ कर दी। बरसों तक वे कठोर साधन करते रहे, परंतु सिद्धि का समय अभी तक नहीं आया था। उनका विगलित वसन शरीर आतप, वर्षा, शीत और क्षुधा के कारण ऐसा अवश और जड़ हो गया कि चलना-फिरना तो दूर, उनमें हिलने-डुलने की शक्ति भी न रह गई। विचार करने पर उन्हें यह मार्ग उपयुक्त न जान पड़ा और उन्होंने मिताहार स्वीकार करके योग साधन करना उचित समझा किंतु उनके साथी पाँचों भिक्षुओं ने उन्हें तपोभ्रष्ट समझ कर उनका साथ छोड़ दिया। गौतम ने उनकी निंदा पर दृक्-पात भी नहीं किया। वे निंदा-स्तुति से ऊपर उठ चुके थे, परंतु निर्बलता के कारण वे भिक्षा करने के लिए भी न जा सकते थे। उधर उनके शरीर पर वस्त्र भी न था। परंतु लोक में भिक्षा करने के लिए जाने की मर्यादा का विचार वे कैसे छोड़ते ? किसी तरह खिसक कर पास के श्मशान से एक वस्त्र उन्होंने प्राप्त किया और उसे धारण कर लिया। गाँव की कुछ लड़कियाँ उन्हें कुछ आहार दे जाती थीं। उसी से

उनमें चलने-फिरने की भी शक्ति आ गई। सुजाता नाम की एक स्त्री ने उन्हें बड़ी सुस्वादु खीर भेंट की थी। उसे खाकर, कहते हैं, भगवान् बहुत तृप्त हुए।

एक दिन निरंजना नदी को पार कर उन्होंने एकांत में एक अश्वत्थ वृक्ष देखा। वही स्थान उन्हें समाधि के लिए बहुत उपयुक्त जान पड़ा। अंत में वही वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और वहीं समाधि में निर्वाण का तत्त्व उनको दृष्टिगोचर हुआ। इसके पहले स्वयं मार (कामदेव) ने उन्हें उस मार्ग से विरत करना चाहा। क्योंकि वह विषयों का विरोधी मार्ग था। सुन्दरी अप्सराएँ उनके सामने प्रकट हुईं। परंतु वे ऐसे ऋषि-मुनि न थे जो डिग जाते। मार ने लुभाने की ही चेष्टा नहीं की, उन्हें डराया-धमकाया भी। कितनी ही विभीषिकाएँ उनके सामने आईं, परंतु वे अटल रहे। स्वयं जीवन-मुक्त होकर भगवान् ने जीव-मात्र के लिए मुक्ति का मार्ग खोल दिया। कर्मकांड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम पर होने वाली जीव-हिंसा का विरोध किया। जो पाँच भिक्षु उनका साथ छोड़कर चले गये थे उन्हीं को सबसे पहले भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसकी संसार भर में धूम मच गई। काशी के समीप सारनाथ में भी आरम्भ में उस धर्म-चक्र का प्रवर्त्तन हुआ। वे भिक्षु उन दिनों वहीं थे।

रोहिणी नदी के तीर पर कपिलवस्तु में भी यह समाचार कैसे न पहुँचता ? शुद्धोदन ने बुद्धदेव को बुलाने के लिये दूत भेजे। परंतु जो-जो उन्हें लेने के लिए गये थे वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार-त्यागी होकर उनके संघ में दीक्षित हो गये। अंत में शुद्धोदन ने अपने मंत्रि-पुत्र को, जो सिद्धार्थ का बालसखा था, उन्हें लेने के लिए भेजा। वह भी भगवान् के संघ में

प्रविष्ट हो गया, परन्तु शुद्धोदन से प्रतिज्ञा कर आया था इसलिए भगवान् को उनका स्मरण दिलाना न भूला।

भगवान् कपिलवस्तु पधारे। रात को वे नगर के बाहर उद्यान में रहे। सवेरे नियमानुसार भिक्षा के लिए निकले। इस समाचार से वहाँ हलचल मच गई। यशोधरा को बड़ा परिताप हुआ। शुद्धोदन ने खेदपूर्वक उनसे कहा—'क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है ?' भगवान् ने कहा—'नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है।'

भगवान् राजप्रासाद में पधारे। सबने उनका उचित स्वागत समादर किया। परंतु यशोधरा उस समारोह में सम्मिलित न हुई। उससे कहा गया तो उसने यही कहा—'भगवान् की मुझ पर कृपा होगी, तो स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे।' अंत में भगवान् ही उसके निकट गये और उस समय भी इस महीयसी महिला ने उन्हें राहुल का दान देकर अपने महात्याग का परिचय दिया।

भगवान् बुद्ध की इस कथा में महाकाव्य के अनेक तत्त्व मिलेंगे। कम-से-कम महाभिनिष्क्रमण और मार-विजय के अंतर्गत कवि के लिए कल्पना और कला की उड़ान के लिए बड़े-बड़े अवसर हैं। अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' में इन प्रसंगों के महत्त्व को समझा गया है। कहा जाता है कि आदि काव्य पर 'बुद्ध-चरित' की कथा का प्रभाव पड़ा है। इसमें संदेह नहीं कि आदि काव्य का आज का सर्वप्रचलित रूप अश्वघोष के समय के बाद संपादित हुआ और यह सम्भव है कि 'बुद्ध-चरित' की लोकप्रियता ने उसके कई काव्य-प्रसंगों को पुष्ट किया हो। वास्तव में बुद्ध और राम की कथा में कुछ एक ही प्रकार के प्रसंग आते हैं—गृह-त्याग और वनगमन की कथा दोनों में

एक ही प्रकार है। जहाँ बुद्ध-चरित में साधक की आंतरिक विजय (मार-विजय) का संघर्ष पूर्ण चित्र है, वहाँ राम-कथा में रावण-विजय के रूप में धर्म की अधर्म पर विजय को रूपक-रूप में उपस्थित किया गया है। संभव है, राम-कथा की इस योजना में बुद्ध-चरित ने सहायता की हो। परंतु अयोध्याकांड के मनोवैज्ञानिक प्रसंगों के रूप में कला-प्रयोगों के लिए एक अत्यंत अभिनव पक्ष भी वहाँ ग्रहण किया गया है।

यह तो रही कथा।

परन्तु इस कथा को प्रकाशित करने में कवि ने वही शैली अपनाई है जो उनके द्वापर की विशेषता है। एक-एक पात्र सम्मुख आता है और वह गीतों के रूप में आत्माभिव्यक्ति करता है। कुछ थोड़े से चुने हुए पात्रों को लेकर ही कथावस्तु बन जाती है। मुख्य पात्र यशोधरा है जो यशोधरा और राहुल-जननी के नाम से बारबार आती है। यशोधरा के द्वैध चरित्र के कारण ही गुप्तजी को यह योजना करनी पड़ी। जहाँ विरहिणी यशोधरा का एकांतिक चित्रण है, वहाँ वह यशोधरा है, परन्तु जहाँ हम उसे राहुल की माता के दृष्टिकोण से देखते हैं, वहाँ राहुल-जननी वास्तव में करुणा की प्रतिमूर्ति है। 'आंचल में है दूध और आँखों में पानी' उक्ति मुख्य रूप से उसीपर लागू होती है।

सिद्धार्थ, महाभिनिष्क्रमण, यशोधरा, नंद, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन और छंदक बुद्ध के गृहत्याग से सम्बन्धित हैं। इनके मुख से हम कथा का पूर्ववाद समझते हैं। कथारम्भ में सिद्धार्थ चिंतामग्न दिखलाई पड़ते हैं—

घूम रहा है कैसा चक्र !
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र
पिसो, पड़े हो इसमें जब तक,

क्या अंतर आया है अब तक,
सहे अन्ततोगत्वा कब तक
हम इस की गति वक्र ?
घूम रहा है कैसा चक्र !

कवि प्रश्न करता है—

कैसा परित्राण हम पावें ?
किन देवों को रोवें गावें ?

वास्तव में कुछ इसी प्रकार की आंतरिक जिज्ञासा बुद्ध के मन में हुई है। इसी जिज्ञासा के कारण वह संसार से विमुख हो, जंगलाणिम्य को सचेष्ट, सशक्त करते रहे। केवल ४-५ गीतों में ही कवि सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण की भूमिका तैयार कर देता है। चौथे गीत में सिद्धार्थ की वेदना अपने बड़े सुन्दर रूप में प्रगट हो सकी है—

कपिल-भूमि भागी, क्या तेरा
यही परम पुरुषार्थ हाय !
खाय-पिये, बस जिये-मरे तू,
यों ही फिर फिर आय - जाय ?
अरे योग के अधिकारी, कह,
यही तुझे क्या योग्य, हाय ?
भोग भोग कर मरे रोग में,
बस वियोग ही हाथ आय ?
सोच हिमालय के अधिवासी,
यह लज्जा की बात हाय !
अपने आप तपे तापों से
तू न तनिक भी शांति पाय ?
बोल युवक, क्या इसीलिए है
यह यौवन अनमोल हाय !

आकर इसके दाँत तोड़ दे,
जरा भंग कर अंग-काय !
बता जीव क्या इसीलिए है
यह जीवन का फूल हाय !
पका और कच्चा फल इसका
तोड़ तोड़ कर काल खाय ?
एक बार तो किसी जन्म के
साथ मरण अनिवार हाय !
बार बार धिक्कार, किंतु यदि
रहे मृत्यु का शेष दाय !
अमृत पुत्र, उठ, कुछ उपाय कर,
चल, चुप हार न बैठ हाय !
खोज रहा है क्या सहाय तू ?
मेट आप ही अन्तराय !

महाभिनिष्क्रमण के बाद कुछ थोड़े से गीतों में कवि ने नंद, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन और भृत्य छन्दक की मनोव्यथा का चित्रण किया है। इन गीतों ने कथा को भी थोड़ा आगे बढ़ाया है—

लो यह छन्दक आया, पर कन्थक शून्यपृष्ठ क्यों आया ?
हे भगवान् ! न जानें, कौन समाचार यह लाया ?

छन्दक कहता है—

कहूँ और क्या भाई !
आना पड़ा मुझे, मैं आया, मुझको मृत्यु न आई !
मारो तुम्हीं मुझे, मर जाऊँ सुख से, राम-दुहाई,
झूठ कहूँ तो सुगति न देवे मुझको गंगा माई !
जोग-भ्रष्ट थे आयं उसी की धुन थी उन्हें समाई,
राज्य छोड़ सन्यास ले गये, रज ही हाय रमाई !

सोने का सुमेरु भी उनके, निकट हुआ था राई,
अस्त्र, वस्त्र-भूषण क्या, उनको नहीं शिखा भी भाई !
हाय ! काट डाले वे केश !
चिकने चुपड़े कोमल-कच्चे सच्चे सुरभि-निवेश।

इसके बाद यशोधरा और 'राहुल–जननी', के शीर्षकों के अंतर्गत कवि ने विरहिणी यशोधरा और माता-पुत्र (वात्सल्य) का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। इनमें विरहिणी रूप से तो हम परिचित हैं—साकेत को ऊर्मिला ने गोपा की ओर चित्रित किया, ऐसा हम जानते हैं, कि कवि ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया। माता-पुत्र का वात्सल्यमय चित्रण नया है। इस दिशा में एक अभिनव काव्यसृष्टि हमें पहली बार 'यशोधरा' में मिलती है। साकेत के नवें सर्ग से कवि पूर्णतः संतुष्ट नहीं थे, अतः विरहिणी यशोधरा में इसी की पूर्ति हुई। राहुल-जननी का चित्र अवश्य नवीन है। नीचे हमें यशोधरा के इन दानों रूपों पर ही विस्तारपूर्वक विचार करना है।

'यशोधरा' में कथा का विशेष विस्तार नहीं है, यह स्पष्ट है। भगवान बुद्ध के बोधिसत्व-प्राप्ति के संघर्षों का भी वर्णन उसमें नहीं है। इस दृष्टि से वह एकांगी है। इसमें हमें यशोधरा के हृदय-भावों का विस्तृत अंकन मिलेगा। यशोधरा को दुःख है कि सिद्धार्थ चोरी से गये—

सखि, वे मुझ से कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

वह कितनी अक्षम रही कि उसका पति भरी तरुणाई में उसे छोड़ गया। लोग क्या कहेंगे, यशोधरा को इस बात की बड़ी चिन्ता है—

सास - ससुर पूछेंगे
तो उनसे क्या अभी कहूँगी मैं ?

हा गर्विता तुम्हारी
मौन रहूँगी, सहूँगी मैं ।

परन्तु यह मौन एक दो दिन का नहीं है, यह तो वर्षों की कल्पना है। शुद्धोधन (ससुर) चाहते हैं कि बुद्ध को तप-विरत किया जाय, परन्तु यशोधरा राज़ी नहीं होती—

यशोधरा—
तात, सोचो क्या गये वे इसी अर्थ हैं,
खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं ?

शुद्धोधन—
बेटी, वह प्रौढ़ है क्या ? वत्स भोला-भाला है ।

यशोधरा—
पा लिया उन्होंने किंतु ज्ञान का उजाला है !

शुद्धोधन—
गोपे, यह गर्व और मान क्या उचित है ?

यशोधरा—
जो मैं कहती हूँ, तात, हाय वही हित है ।

छन्दक ने सुनाया, सिद्धार्थ ने सिर के बाल काट कर यती का भेष बना लिया है। यशोधरा भी सिर के बाल काट डालती है—अब इस शृंगार की आवश्यकता ही क्या है—

जाओ, मेरे सिर के बाल
अलि, कर्त्तरीला, मैंने क्या पाले काले व्याल ?
उलझें यहाँ न ये आपस में सुलझें वे व्रतपाल ।
डसें न हाय ! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल ।
कसे न और मुझे अब आकर हेम-हीर, मणि-माल,
चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहीं चिर-काल ।
मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल !

क्या है अंजन अंग-राग, जब मिली विभूति विशाल,
बस, सिन्दूरविन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल,
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल ।

वह राहुल के साथ ही यह दुःख के दिन बिता देगी—वही तो उनकी थाती है। जब बोधिसत्व लाभ कर के लौटेंगे, तो उनकी यह थाती उन्हें सौंप देगी। हाँ, उसके भीतर जो कसक उठ रही है, वह यही है कि उसके नाथ ने उस पर विश्वास नहीं किया। वह कहती है—

दूँ किस मुख से तुम्हें उलहना ?
नाथ, मुझे इतना ही कहना ।

हाय ! स्वार्थिनी थी मैं ऐसी, रोक तुम्हें रख लेती ?
जहाँ राज्य भी त्याज्य, वहाँ मैं जाने तुम्हें न देती ?
आश्रय होता या वह बहना !
नाथ मुझे इतना ही कहना ।

सचमुच, आर्यनारी की भाँति वह इस गरल को स्वयम् पान कर जाना चाहती है—उलहना वह नहीं देगी। उसका तप, उसकी मंगलाकांक्षा, उसका सुहाग पति के साथ है—

जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी ।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बात हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी ?
तुम्हें अप्सरा विघ्न न व्यापे यशोधरा-कर-धारी ।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ।

परंतु यह उदात्त त्याग-भाव बराबर ही नहीं बना रहता और गोपा सधारण गोपी के तल पर उतर आती है। परंतु इसमें नारीत्व की ही विजय है, अप्राकृतिक बात कोई नहीं। जो है,

यशोधरा का यह द्विधाप्रधान रूप, यह प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष अत्यन्त आकर्षक है। छोटे-छोटे गीतों में यह द्विधा, यह प्राण-मन का संकोच बड़ी सफलता से प्रकाशित हुआ है। कोयल कूकती है तो यशोधरा गाने लगती है—

कूक उठी है कोयल काली।
ओ मेरे बन माली।

चातक 'पिउ पिउ' की रट लगाते हैं, तो उसके हृदय में भी यही रट उठने लगती है—

बलि जाऊं, बलि जाऊं चातकि, बलि जाऊं इस रट की।

बसंत के प्राकृतिक विलास में उसे अपना यह रुदन और सूना जान पड़ता है—

फलों के बीज फलों में फिर आये,
मेरे दिन फिरे न हाय।
गये घन कै कै बार न घिर आये?
वे निर्झर झिरे न हाय।

परन्तु इस वैयक्तिक दुःखके पीछे पुत्र राहुल का बल है। यशोधरा के वात्सल्य का प्रकाशन बड़े सुन्दर गीतों में हुआ है। सूरदास के बाद इस क्षेत्र को किसी ने छुआ ही नहीं था। कुछ गीतों में कृष्ण-काव्य की धुन स्पष्ट है -

किलक अरे, मैं नेक निहारूँ,
इन दाँतों पर मोती वारूँ!
पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सवेरे,
हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल! मुख में तेरे।
लटपट चरण! चाल अटपट-सी मनभाई है मेरे,
तू मेरी अँगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ?
इन दाँतों पर मोती वारूँ!

कहीं-कहीं तो गीत इतने मार्मिक हो उठे हैं कि भाषा नये गौरव से सुरभित हो जाती है। लगता है, जैसे गीत के भाव ने भाषा को और भी मधुर कर दिया है—

टहर, बाल गोपाल कन्हैया।
राहुल, राजा भैया!
कैसे धाऊँ, पाऊँ तुझको हार गई मैं दैया,
मद्द दूध प्रस्तुत है बेटा, दुग्ध फेन-सी शैय्या।
तू ही एक खिवैया, मेरी पड़ी भंवर में नैया,
आ मेरी गोदी में आजा, मैं हूँ दुखिया मैया,
"मैया है तू अथवा मेरी दो थन वाली गैया?
रोने से यह रिस ही अच्छी, तिली तिली ता थैया!"

राहुल बड़ा हो जाता है। माँ से तरह-तरह के प्रश्न करने लगता है—

" अम्ब, तात कब आयेंगे?"

यशोधरा तरह-तरह की बातों में उसे भुलाना चाहती है, परन्तु चतुर बालक भुलाया ही नहीं जाता। राहुल-यशोधरा के चित्रण में एक बड़ी लांछा कवि के ऊपर यह आती है कि वह ऐसे-ऐसे प्रश्न बालक से करवाता है, जो उसकी वय के उपयुक्त नहीं। पर यह लांछा सर्वत्र नहीं। कल्पनाशीलता बालक का स्वाभाविक गुण है। राहुल पिता की बात जानकर उनके सम्बन्ध में तरह-तरह की कल्पना करने लगता है—

विहग-समान यदि अम्ब, पंख पाता मैं,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं।
मंडल बनाकर मैं घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस बन में।
कहता मैं—"तात, उठो, घर चलो अब तो"
चौंक कर अम्ब, मुझे देखते वे तब तो।

कहते—"तू कौन है" तो नाम बतलाता मैं,
और सीधा मार्ग दिखा शीघ्र उन्हें लाता मैं।

माँ पिता की अनेक कहानियाँ सुनाकर अपने मन की व्यथा को शीतल करती है। दिन में तो किसी तरह गर्विणी गोपा अपने दुःख को छिपा लेगी, राहुल से बहला लेगी, परन्तु रात की नीरवता में तो उसके आँसू थमते नहीं। माँ राहुल को सुला रही है—

सो, अपने चंचलपन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो!
पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुंजन, सो!

× × ×

रहे मंद ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट कसाला?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो!

अंत में वह अपनी परिस्थिति से समझौता कर लेती है—

अब क्या रक्खा है रोने में?
इन्दुकले, दिन काट शून्य के किसी एक कोने में!

राहुल ही अब उसका जीवन-प्राण बन जाता है—

बस, मैं ऐसी ही निभ जाऊँ।
राहुल, निज रानीपन देकर
तेरी चिर परिचर्य्या पाऊँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विरहिणी यशोधरा में धीरे-धीरे

महान् परिवर्तन हो जाता है। अब वह राहुल के नाते जीती है।

पाँचवें सर्ग में कवि ने गद्य-नाटक (एकांकी) के रूप में यशोधरा की पुत्र-विषयक चिंता का चित्रण किया, परन्तु उसमें काव्यत्व विशेष नहीं, वाग्विलास ही अधिक है। यहाँ गोपा राहुल और पति की चिंता में रत कर्तव्यपरायण चित्रित हुई हैं। परन्तु बहुत कुछ ऐसा भी है, जो स्पष्ट बताता है कि कवि को अपने विषय से उतनी रुचि नहीं जितनी 'साकेत' से थी। उसकी क़लम जैसे थक गई हो, या रास्ता ढूँढ़ नहीं पा रही हो।

यशोधरा के दिन फिरते हैं। उसके वाम अंग फड़कने लगते हैं। गौतम ने सत्य का संधान कर लिया है। अब वे 'बुद्ध' हो गये। गौतमी यह संदेश यशोधरा के पास लाती है। यशोधरा—दुःखिनी यशोधरा—केवल मात्र यही कह कर संतोष कर लेती है—

"यदि यह सत्य है तो मैं भी कृतकृत्य हूँ,
आज सुख से भी निज दुःख मुझे प्यारा है।"

× × ×

"जय हो, सदैव आर्यपुत्र की विजय हो!
उनके करुण - धर्म - संघ के शरण में
गोपा के लिये भी कहीं ठौर होगी या नहीं।
आली उनकी जो दृष्टि सृष्टि-भेदिनी है, क्या
इस चिर - किंकरी के ऊपर भी आयेगी!
अब तक भी मैं यहाँ वंचिता ही क्यों रही!

'बुद्ध' आते हैं, परन्तु गर्विणी गोपा उनकी शरण में कैसे जाये! परन्तु अंत में उसके मान की विजय होती है। बुद्ध की इस स्वीकारोक्ति में यशोधरा का कितना बड़ा अभिमान छिपा था—

माना, दुर्बल ही था गौतम छिप कर गया छिदान,
किन्तु शुभे, परिणाम भले ही हुआ सुधा-संधान।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।

इस स्वीकारोक्ति के बाद राहुल और गोपा को बुद्ध की शरण में ही जाना था—

तुम भिक्षुक बनकर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी?
मेरे दुख में भरा विश्व-सुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी,
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामिऽ।

भारत के इतिहास का एक महान् गौरव-चित्र इस प्रकार गीतों में गूंथ दिया गया है।

'द्वापर' 'साकेत' और 'यशोधरा' की ही श्रेणी में आता है यद्यपि उसमें कवि इतना अधिक महत्वाकांक्षी नहीं है। 'निवेदन' में ही कवि कहता है—'द्वापर' के लिए जिस विशाल चित्रपट की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति इन परिमित पृष्ठों में क्या हो सकती है? कदाचित् द्वापर (गोकुल), द्वारका और कुरुक्षेत्र के रूप में तीन कथा-काव्यों की बात सोच कर कवि चला है।

परन्तु केवल 'द्वापर' (गोकुल) का विषय में कम महत्व, पूर्ण नहीं है। 'सूरसागर' के ८००० के लगभग पदों में जो कथा कही गई है, उसे सक्षेप में रखने के लिए कवि को नया ढंग अपनाना पड़ा है। उसमें कथा को केवल 'स्वकथन' (Soliloquy) के रूप में लिखा है। गोकुल के सारे पात्रों को हम एक जगह पाते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—श्री कृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता (यज्ञकर्ता), बलराम, ग्वाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नन्द, कुब्जा, उद्धव और गोपी। एक तरह

से सारी बालकृष्ण की कथा इस नये ढंग से उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक पात्र केवल एक बार आकर अपने चरित्र को आप ही प्रकाशित कर देता है।

गुप्तजी मूलतः रामभक्त वैष्णव कवि हैं, अतः मंगलाचरण में वह राम-कृष्ण की एकता सूचित करते हैं—

धनुर्बाण या वेणु लो! श्याम रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।

इसके बाद कृष्ण के सम्बन्ध में केवल एक छंद है जिसमें सारी गीता का सार आ गया है—

राम-भजन कर पांचजन्य ! तू
वेणु बजा लूँ आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले,
स्वर ये मेरे भाव-भरे—

कोई हो, सब धर्म छोड़ दे,
आ बस मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह जिससे
मेरे हाथों तू न तरे

राधा के रूप में भक्त का अनन्य आत्मसमर्पण ही चित्रित हुआ है—

शरण एक तेरे मैं आई,
धरे रहें सब धर्म हरे !
बजा तनिक तू अपनी मुरली,
नाचे मेरे मर्म हरे !
नहीं चाहती मैं विनिमय में
उन वचनों का वर्म हरे !

तुझको एक तुझी को अर्पित
राधा के सब कर्म हरे !
यह वृन्दावन, यह वंशीवट,
यह यमुना का तीर हरे !
यह तरते ताराम्बर वाला,
नीला निर्मल नीर हरे !
यह शशि-रंजित, सित घन व्यंजित
परिचय त्रिविधि समीर हरे !
बस यह तेरा अंक और यह
मेरा रंक शरीर, हरे !

सूरदास के यशोदा और नंद के वात्सल्य-पूर्ण चित्रों से जो परिचित हैं, वे गुप्तजी का यह चित्र भी देखें—

मैं कहती हूँ, बरजो इसको
नित्य उलहना आता,
घर की खाँड छोड़ यह बाहर
चोरी का गुड़ खाता।
वे कहते हैं—आ मोहन अब,
अफरी तेरी माता,
स्वाद बदलने को न अन्यथा
मुझे बुलाया जाता।
वह कहता है—तात, कहाँ अब
मैंने खट्टा खाया
तेरा दिया राम सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
मेरे श्याम सलोने की है,
मधु से मीठी बोली

कुटिल अलक वाले की आकृति
है क्या भोली-भोली।
मृग से दृग हैं, किन्तु अनी सी
तीक्ष्ण दृष्टि अनमोली,
बड़ी कौन-सी बात न उसने
सूक्ष्म बुद्धि पर तोली ?

वास्तव में सूरसागर के बाद बाल-गोपाल की कथा में विशेष विकास नहीं हुआ। आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास' और 'द्वापर' ऐसी दो रचनाएँ हैं जिनमें राधा-कृष्ण के प्रसंग को नया रूप देने की चेष्टा की गई है। द्वापर की रचना बाद में हुई है। उस पर 'प्रियप्रवास' की कर्तव्य-परायण राधा की छाप है, परंतु अनेक दृष्टि से वह नितांत नवीन रचना है। प्रियप्रवास के कवि ने कृष्ण-कथा के संबन्ध में हमें आधुनिक दृष्टिकोण देने की कोई चेष्टा नहीं की। वे केवल कुछ नई रूपरेखायें गढ़ने तक ही सीमित रहे। 'द्वापर' का कवि एक द्विधामय समाज और संस्कृति के महान् प्रश्नों की ओर इंगित करता है। नर-नारी के सम्बन्ध और कर्मकांड एवं कृषियज्ञ के विषय में नई आधुनिक विवेचना इस छोटे से काव्य में मिलेगी। यदि साकेत के ढंग पर गुप्तजी कृष्ण-कथा को भी महाकाव्य के रूप में लिखते तो वह निःसन्देह कृष्ण-चरित्र की अनेक लांछनाओं को दूर कर देता। 'द्वापर' में उन्होंने सारी कृष्ण कथा को इतना उदात्त रूप दिया है कि उस रूप में कृष्ण-कथा किसी को भी अग्राह्य नहीं होगी, परंतु जिस शैली का उन्होंने प्रयोग किया है उसकी अपनी सीमायें हैं। जो हो, साकेत, यशोधरा और द्वापर के लिए हिंदीकाव्य इस कवि का सदा ऋणी रहेगा।

७

परवर्त्ती रचनायें

पिछले कुछ वर्षों में मैथिलीशरण गुप्त की अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें महत्वपूर्ण हैं 'नहुष' (१६४०), 'कुणाल गीत' (१६४२) और 'अजित' (१९४३)। इधर 'दिवोदास' नाम का एक छोटा सा गीति नाट्य भी 'प्रतीक' (मासिक-पत्र, प्रयाग) के एक अंक में प्रकाशित हुआ है। इन रचनाओं ने जनता का ध्यान अपनी ओर अधिक नहीं खींचा—इसका कारण यह है कि इस समय हिन्दी के काव्य में अनेक नई शक्तियाँ आ गई हैं जो हिन्दी कविता को नई गति-विधि दे रही हैं। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' के बाद गुप्तजी से इनसे अच्छी किसी चीज़ की आशा करना व्यर्थ है—वे अब भी सिद्ध कवि हैं, परन्तु अपनी प्रतिभा का सर्वोत्तम उन्मेष वे हिंदी को दे चुके। परन्तु भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रेमी गुप्तजी जैसे उसके किसी भी अंग को अछूता रहने देना नहीं चाहते—इसी से ये नये प्रयत्न हैं। इनमें 'अजित' की एक काल्पनिक कथा है। आधुनिक भारत की सत्याग्रह की लड़ाई ही इसका विषय है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिस राष्ट्रीय युद्ध का चित्रण है, उसी को लेकर यह 'काव्य' कथा लिखी गई है। कवि ने पहले 'कारा' नाम से इसे लिखना आरम्भ किया था। सामयिक इतिहास और राष्ट्रीयता की सुन्दर झाँकियाँ इस ग्रन्थ में मिलेंगी।

'नहुष' में मैथिलीशरण गुप्त ने एक पौराणिक प्रसिद्ध कथा को युगानुसार नया रूप देना चाहा है और वे इसमें सफल भी हुए

हैं। नहुष का नाम वैदिक काल से सुना जाता है और मनु के समय से ही उसकी कथा चलती है। महाभारत के उद्योगपर्व में यह कथा विस्तारपूर्वक लिखी गई है। इस कथा को लेकर पहले कवि ने 'इंद्राणी' नाम से एक काव्य लिखना आरम्भ किया था। वही समाप्त होकर 'नहुष' है। 'स्वर्ग से पतन' नाम की महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक प्रसिद्ध रचना है। कदाचित् गुप्तजी को इस कथा ने भी प्रेरणा दी है। 'निवेदन' में उन्होंने मिल्टन के "पैराडाइज़ लॉस्ट" का भी उल्लेख किया है। उसमें भी स्वर्ग से पतन की बात कही गई है। केन्द्रीय भाव 'निवेदन' में ही स्पष्ट कर दिया गया है—"मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार बार उसे नीचे ले जाती हैं। मनुष्य को उनपर विजय पानी ही होगी। इसके लिए उसे साहसपूर्वक फिर-फिर उठ खड़ा होना होगा। तब तक, जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले।" 'नहुष' की यह अन्तिम पंक्तियाँ किस मनुष्य को महाभाव से नहीं भर देंगी—

"आ घुसा असुर हाय ! मेरे ही हृदय में,
मानता हूँ आप लज्जा पाप–अविनय में।
मानता हूँ और सब हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता।
आज मेरा मुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
तन जिसका हो, मन और आत्मा मेरा है,
चिन्ता नहीं बाहर उजेला या अँधेरा है।
चलना मुझे है, बस अंत तक चलना;
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना।
गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।

फिर भी उठूँगा और बैठके रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं।"

'कुणाल गीत' में कवि ने एक बार फिर गीतों के क्षेत्र को अपनाया है। करुणा-रस की ओर कवि को सहज अनुरक्ति है, इसीसे इतिहास के इस पन्ने की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। 'अजित' और 'कुणाल' दोनों उस समय लिखे गये जब कवि राजबन्दी था और अपने इस नये जीवन का प्रभाव इन पर पड़ा है। इनमें 'कुणाल गीत' में साहित्यिकता की मात्रा अधिक है। 'साकेत' की ऊर्मिला ने नवें-दसवें सर्ग में गीतों का जो नया पथ कवि को दिखलाया उसे वह बराबर पकड़े रहा है और 'कुणाल गीत' उस परंपरा की अन्तिम कड़ी है। कथा तो जन-परिचित ही है। कुणाल-अशोक का पुत्र। विमाता तिष्यरक्षिता के काम मोह के कारण किस प्रकार वह नेत्र-शून्य हुआ, किस प्रकार क्षमा-साधना द्वारा उसे फिर नेत्रों की प्राप्ति हुई, यही छोटी सी कथा है, परन्तु इन गीतों में एक बार फिर करुणा की आत्मविभोर कर देने वाली मंदाकिनी बही है। मैत्री-करुणा के जिस उपदेश को बुद्ध ने कभी इस भारत-भूमि पर बहाया था उसका एक झाँकी इस गीत में देखिए—

मैत्री-करुणा में कल्याण,
विश्वबंधुता में ही त्राण।
देश, काल, गुण, कर्म, स्वभाव,
ये शाखाओं के अलगाव।
खोलो तनिक मूल प्रस्ताव,
तोलो साधन के परिमाण!
विश्व-बंधुता में ही त्राण।
आकृति, वर्ण और बहु भेष,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष।

डालो अंतर्दृष्टि निमेष,
देखो अहा! एक ही प्राण।
विश्व बंधुता में ही त्राण।

वाद विनोद बनें प्रत्यक्ष,
रहे विभिन्न हमारे पक्ष।
एक मोक्ष ही सबका लक्ष,
करो उसी की ओर प्रयाण।
विश्व-बंधुता में ही त्राण।

रुचि-मूलक मानस के मंथ,
भिन्न-भिन्न अपने मत-पंथ।
रहें अनेक अलार्थिक ग्रन्थ,
मिलें एक के लाख प्रमाण।
विश्व बंधुता में ही त्राण।

आज-कल विश्वबंधुत्व और मैत्री की आवाज़ उठ रही है, उसमें कवि के स्वस्थ कण्ठ ने भी योग दिया है। राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और महान् मानव-सदेशों को हमारे सामने उपस्थित कर रहे हैं। कितनी उदात्त भावना है—

पार उतरना है तो तर,
नारायण हो मेरे नर।

यहाँ उसी का स्नेह फला,
जो दीपक-सा उजल जला।
यों सबका निर्माण भला,
अन्तर से ही अन्तर भर।
नारायण हो मेरे नर।

बन्धन जावें, नियम रहें,
भव न बहें, सौ विभव बहें।
दुःख भले, हम जिन्हें सहें,
विचर जहाँ, निर्वैर विचर।
नारायण हो, मेरे नर !

जहाँ तक शुद्ध साहित्य का प्रश्न है, कुणाल गीत में साहित्य-रस की मात्रा अधिक नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि कवि ने कथा-विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है और मुक्तक गीतों में कथा छिन्न-भिन्न हो जाती है। परंतु गीतों के विषय भी साहित्य के विषय नहीं हैं। उनमें दार्शनिक विचारों और बुद्ध के करुणा-मैत्री के संदेशों को प्रधानता है। फलतः 'कुणाल-गीत' कवि के साहित्य में कोई महत्वपूर्ण नई कड़ी नहीं जोड़ता।

अब रह गया 'दिवोदास'।

दिवोदास और नहुष की केन्द्रीय भाव-धारा में विशेष अंतर नहीं है। दोनों में मनुष्यत्व के देवत्व के ऊपर विजय लाभ के चित्र हैं। मनुष्य के भीतर ही जो देवता है, वही जब ऊपर उठ जाता है तो मनुष्य मनुष्येतर बन जाता है। 'नहुष' कहता है—

उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।

'दिवोदास' की कथा में इसी भाव को कथा सूत्र में पिरो दिया गया है। भूमिका में कवि स्वयम् लिखता है—'दिवोदास' की वस्तु-कथा पुराण से ली गई है। प्राचीन काल में यहाँ के एक राजर्षि ने स्वयं देवों के विरुद्ध अपने पुरुषार्थ की पताका उड़ाई थी। इससे भी अधिक विस्मय की बात यह है कि हमारे देवप्राण पुराणकार ने ही उसका जय-जयकार किया। इस प्रकार

यहाँ भी पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा सच्चे देवत्व के रूप में हुई। आरंभ से ही कवि का यह उद्देश्य रहा है। गंगातीर के अपने छोटे से आश्रम में समाधि-प्रिय रिपुंजय कहता है—

नहीं मंत्रद्रष्टा मैं, फिर भी प्रिय है सब को शोध,
हुआ मुझे अपनी समाधि में असंदिग्ध यह बोध।
निज मर्यादा पुरुषोत्तम ही है मानव का आदर्श,
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदय स्पर्श।

अंत में उसे 'दिवोदास' ही पुरुषोत्तम मानव के रूप में ग्रहण होता है। देवता पर मानव की विजय !

इन नये काव्यों में कला का रूप चाहे उतना सुन्दर नहीं आया हो जितना 'साकेत' या 'द्वापर' में परन्तु यह निश्चित है कि मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिभा से आज भी उनके पाठक पूर्णतः आश्वस्त हैं। हिंदी का विशाल जनसमूह अभी भी उनकी प्रतिभा का प्रसाद ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहता है।

८

गुप्तजी के काव्य का साहित्यिक मूल्यांकन (उपसंहार)

गुप्तजी के काव्य का आरंभ १९०३-०४ के लगभग होता है जब उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के लिए अपनी एक छोटी सी रचना भेजी। महावीरप्रसाद द्विवेदी उन दिनों सरस्वती के संपादक होकर आये थे। उन्होंने उस कविता को नहीं छापा, परंतु कवि को कविता लौटाते हुए अपने कुछ आदेश भी उसके साथ भेज दिये। संशोधित कविता सरस्वती में प्रकाशित हुई। प्रत्येक कविता पहले द्विवेदीजी द्वारा संशोधित होती और तब प्रकाशित की जाती। द्विवेदीजी के संशोधन के अनुसार तरुण कवि नई कविताओं में भाषा सुधार का प्रयत्न करता। द्विवेदीजी को जब किसी विषय पर कोई कविता लिखनी होती तो इसी तरुण से लिखाते। सरस्वती के प्रत्येक अंक में मुख्य चित्र के रूप में रवि वर्मा का कोई पौराणिक चित्र होता। बहुधा प्रत्येक चित्र के साथ मैथिलीशरण गुप्त की उसी विषय पर कोई कविता भी प्रकाशित होती। इस प्रकार धीरे-धीरे मैथिलीशरण गुप्त 'सरस्वती' के पाठकों के अधिक निकट होते गये। उनमें और द्विवेदीजी में बराबर पत्रों का आदान-प्रदान रहता। वर्षों तक द्विवेदी का यह भाषा-परिष्कार का काम चलता रहता और सरस्वती के पृष्ठ मैथिलीशरण गुप्त के प्रयोगों के लिए खुले रहे। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को काव्य-क्षेत्र में लाने के लिए जो प्रयत्न

किया, वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गद्य के क्षेत्र में तो वे बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों के नेता थे ही। पद्य के क्षेत्र में कदाचित् वे अपनी अक्षमता जानते थे। उन्होंने जॉनसन का काम अपने ऊपर लिया। काव्य की नई विवेचना उन्होंने की, परन्तु कविता लिखने का भार कुछ नये तरुणों पर छोड़ दिया। वे ही उनके सिद्धान्तों पर प्रयोग करते। मैथिलीशरण गुप्त इन नये तरुणों में द्विवेदीजी के सब से अधिक निकट थे।

१९०३ ई० से १९१० ई० तक की 'सरस्वती' में मैथिलीशरण गुप्त के प्रारंभिक प्रयोग अब भी सुरक्षित हैं। १९१० ई० में 'रंग में भंग' पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ, परंतु १९०६ ई० में वह 'सरस्वती' में छप चुका था। जो हो, इसी पहली रचना द्वारा वह पुस्तकाकार रूप में सामने आये और प्रवाहात्मक सीधा-सरल कथा-काव्य लिखने के कारण उन्होंने जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। 'जयद्रथवध' (१९१०) और 'भारत-भारती' (१९१२) ने साहित्य-क्षेत्र में उनकी कीर्ति को स्थायित्व दिया। अब वे केवल रससिद्ध कवि ही नहीं, राष्ट्रीय कवि भी मान लिये गये। १९१० ई० से १९२५ ई० तक मैथिलीशरण गुप्त ने अनेक काव्यों का प्रणयन किया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'पंचवटी' है जो साहित्य और कला की दृष्टि से आज भी अत्यंत लोक-प्रिय रचना है। परंतु और भी अधिक महत्वपूर्ण काम माइकेल मधुसूदन दत्त (विरहिणी व्रजाङ्गना, मेघनाद वध, वीरांगना, पद्मावती) और नवीनचंद्र सेन (पलासी का युद्ध) का अनुवाद था। इन अनुवादों ने गुप्तजी की भाषा को पुष्ट किया और उन्हें कथा-काव्य के प्रति विशेष रूप से आकर्षित किया। 'मेघनाद वध' और 'पलासी का युद्ध' (पलासीर युद्ध) आधुनिक काव्य में अग्रगण्य हैं और उनका अनुवाद करना बड़े साहस का काम था। 'मधुप'

उपनाम से गुप्तजी ने यह अनुवाद उपस्थित किये। आज भी यह अनुवाद सुगम्य हैं। केवल यही अनुवाद प्राप्त हैं। ऐसा महाकाव्यों पर अपनो प्रतिभा की जाँच करने का दुस्साहस अभी तक और कोई कवि नहीं कर सका है।

१९२५ ई० तक गुप्तजी का काव्य सारे हिन्दी जगत में लोकप्रिय हो गया था। काव्य के क्षेत्र में वे शीर्षस्थान पर हो रहे थे। इसके बाद उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और पौराणिक अनेक प्रकार की रचनाएँ कीं। पौराणिक विषयों के ऊपर उन्हें बराबर मोह रहा। जयद्रथवध (१९१०) से नहुष (१९४०) तक उनकी पौराणिक रचनाओंकी शृङ्खला बराबर जुड़ी चली आती है। सच तो यह है कि पिछले ४० वर्ष को दीर्घकालीन काव्यसाधना में गुप्तजी ने हिंदू धर्म के इतिहास और पुराण के अनेक नये संस्करण उपस्थित किये हैं। उनमें पुराना बहुत है, परन्तु नया भी कम नहीं है। यह आश्चर्य का बात है कि वे रामप्राण और पुराण-प्रिय होते हुए भी पौराणिक कथाओं को बराबर नया वैज्ञानिक और तर्कपुष्ट रूप देते रहे हैं। नई छायावादी धारा का प्रवर्तन १९०७ के लगभग ही हो गया था, परन्तु उसने १९१८ के बाद ही विशेष बल प्राप्त किया। 'झङ्कार' (१९२९) की रचनाओं और 'यशोधरा' (१९३३), 'द्वापर' (१९३६) और 'कुणालगीत' (१९४२) पर इस नई काव्यधारा द्वारा प्रचारित और पोषित अनेक प्रवृत्तियों को गुप्तजी ने आत्मसात कर लिया है। वे नई शक्तियों को स्वीकार कर बराबर आगे बढ़ते गये। परन्तु छायावादी कवियों ने कल्पना, कला, प्रकृति और मानव के मन के अज्ञात रहस्यों तक ही अपना कवि कर्म सीमित रखा। भारत के इतिहास, धर्म, पुराण और वीरगाथा की ओर उनकी विशेष रुचि नहीं थी। उनका धर्म भी जनता का धर्म नहीं था। जहाँ गुप्तजी स्पष्टतय: वैष्णव सगुणोपासक

भक्त थे, वहाँ ये नये कवि रवीन्द्रनाथ के 'जीवनदेवता' से अपना संबंध जोड़ते थे और किसी अदृश्य, अनिर्वचनीय चिद्सत्ता के प्रति मिलन और वियोग के रहस्यमय गीत गाते थे। उनके पैर पृथ्वी से ऊपर उठ गये थे और वे केवल कल्पना और करुणा के पंखों पर मुक्त आकाश में उड़ रहे थे। परन्तु इन पंखों में अधिक बल नहीं था। इनके प्राण-तंतु विदेशी थे। अत: अधिकांश नये कवि जनता के प्राणों को छूने में असफल रहे। यह सच है कि उन्होंने हिंदी कविता के एक पक्ष में एक बहुत बड़ी क्रांति उत्पन्न कर दी, परन्तु इस क्रांति का आधार अंग्रेजी और बङ्गला काव्य थे। हिंदी प्रदेश की धरती से इनका सम्बन्ध नहीं।

यही कारण है कि हमारे पिछले चालीस वर्ष की कविता का प्रतिनिधित्व मैथिलीशरण गुप्त करते हैं, छायावादी कवि नहीं। जिस प्रकार प्रेमचंद की रचनाओं में हमें भारत के राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों के चित्र मिलते हैं और हम उनमें एक बदलते हुए राष्ट्र का स्पंदन पाते हैं, उसी प्रकार गुप्तजी की कविता में पिछले चालीस वर्षों के भारतवर्ष का हृदय बोल रहा है। यह अवश्य है कि उनमें साहित्य और कला की उतनी उड़ानें नहीं मिलेंगी जितनी पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा के काव्य में। अन्य देशों के सामयिक काव्य के समकक्ष हम उनका काव्य नहीं रख सकते—उसकी श्रेणी ही भिन्न है। वह साहित्यिक दृष्टि से इतना ऊँचा नहीं है कि देश-काल की सीमा को पार कर सके। वह भारतवर्ष की मिट्टी से इतना चिपटा हुआ है कि इस देश, इस काल के अतिरिक्त उसका कहीं स्थान ही नहीं है, परन्तु वह साहित्य और कला के सार्वभौमिक तत्त्वों से नितांत क्षीण भी नहीं है। परन्तु इस कवि की कुछ अपनी सीमायें हैं जो कुछ तो देशकाल और परिस्थिति की उपज हैं और कुछ उसने स्वयम् निर्धारित कर ली हैं। वह अपने युग

को छोड़ कर और आगे बढ़ना नहीं चाहता। 'द्वापर' में उसने लिखा है—

अपने युग को हीन समझना
आत्महीनता होगी,
सजग रहो, इससे दुर्बलता
और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए, वही तो
अपने लिये बड़ा है,
अहा, हमारे आगे कितना
कर्मक्षेत्र पड़ा है।
हीन गया है काल कौन-सा ?
क्या वन मंद नहीं अब ?
सायं प्रात, रातदिन ऋतुएँ
या रविचन्द्र नहीं अब ?
सावधान ! युग के अधर्म को
हम युग धर्म न समझें !
कर्म नहीं, हम पतित आप
यदि उनका मर्म न समझें।

इसी प्रकार साहित्य के सम्बन्ध में वह कुछ निश्चित सिद्धांत लेकर चला है। वह कलावादी नहीं, उपयोगिता-वादी है। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में उन्होंने लक्ष्मण के मुँह से कहलवाया है—

यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है,
जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है।
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा !

किंतु होना चाहिये कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता ही, प्रिये।

इसी पुस्तक में हमने एक और उद्धरण भी दिया है जिसमें कवि भाषा और कला के निरालंकार सहज स्वाभाविक रूप का ही आग्रह प्रगट करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवि अपने युग की सामाजिक और राष्ट्रीय संस्कृति को ही गढ़ने में अपनी कवि-कला की सार्थकता समझता है। यही उसका उद्देश्य है। इसी लक्ष्य के लिए वह काव्य-रचना करता है। परंतु केवल मात्र वाग्विलास, केवल मात्र कल्पना उसे विशेष प्रिय नहीं हैं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि गुप्तजी की कला की विशेषता उसका सहज-सरल, निर्विशेष रूप है।

साहित्य और कला, जातीयता और राष्ट्रीयता के ऊपर कवि के व्यक्तिगत रामधर्म की छाप मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में आरम्भ में मिलेगी। यों तो राम-सम्बन्धी उनकी रचनाएँ 'पंचवटी' (१९२५) और 'साकेत' (१९३२) ही हैं, परन्तु राम का उल्लेख कहीं न हो, ऐसी कदाचित् कोई पुस्तक नहीं होगी। लगभग सभी ग्रन्थों की भूमिका के रूप में (मंगलाचरण में) रामयशगान मिलेगा। राष्ट्रीयता और राम-भावना में समन्वय का एक दृष्टांत इस मंगलाचरण के पद में देखिए—

राम, तुम्हें यह देश न भूले
धाम-धरा-तल जाय भले ही,

यह अपना उद्देश्य न भूले।
निजभाषा, निज भाव न भूले,
निज भूषा निज वेश न भूले,
प्रभो, तुम्हें भी सिंधु पार से,
सीता का संदेश न भूले।

इस प्रकार गुप्तजी की लगभग समस्त रचनाओं पर एक व्यापक रामधर्म, एक सार्वभौमिक वैष्णवता की छाप मिलेगी। वैष्णवधर्म, हिन्दूजातीयता और राष्ट्रीयता वे त्रिमूर्ति हैं जिनको साहित्य और कला के विशाल मंदिर में प्रतिष्ठित कर कवि ने अपनी सारी भावना, सारी क्षमता की श्रद्धांजलि अर्पित की है। उनके काव्य में अमर तत्त्व अधिक नहीं सही, परन्तु उन्होंने तुलसी की तरह ही केवल वाणीविलासके लिए कुछ नहीं लिखा।

आगे हम जो गुप्तजी के काव्य और कला पर विशद-विवेचना दे रहे हैं, यह उसकी पृष्ठभूमि है। अब हम भिन्न २ शीर्षकों के साथ कवि के काव्य पर सामूहिक रूप से विचार करेंगे—

१. व्यक्तित्व

यदि श्रेष्ठ काव्य कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशन है, तो इसमें सन्देह नहीं की गुप्तजी की इस दीर्घकालीन काव्य-साधना में उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन पूर्ण रूप से हो सका है। उनका व्यक्तित्व सहज-प्रसन्न, मधुर और आकर्षक है। उसमें मृदुलता ही मृदुलता है, क्रांति की हुँकार उसमें नहीं मिलेगी। इसीसे अपनी इस लंबी काव्यसाधना में वे बराबर काव्य के सहज-प्राकृतिक पथ पर बढ़ते रहे हैं। उन्होंने भारतेन्दु-युग की काव्य-परंपरा को निभाते हुए अपनी प्रारम्भिक काव्य रचना आरम्भ की और महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य-विषयक

आदर्शों को स्वीकार करते हुए स्वयं एक नई परंपरा गढ़ी। ऐसा कहीं मालूम नहीं होता कि परंपरा की कड़ियाँ कहीं सहसा छिन्न-भिन्न हो गई हों। सब कुछ जगद्‌वारिणी गङ्गा की तरह लोक-मानस के समतल पर ही बह रहा है। नई प्रवृत्तियों और कला की नई अभिव्यंजनाओं को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने अपनी काव्यकला की भित्ति सहज सामान्य और सर्वग्राह्य ही रखी है। द्विवेदीयुग सामाजिक आन्दोलनों और सुधारवादी संस्थाओं की हलचलों का युग था। उस युग में आचार-नियमन और सामाजिकता की प्रधानता थी। अनेक विधि-निषेध थे। छायावाद के कवियों ने इन बन्धनों का विरोध कर बन्धनहीन, आत्मनिष्ठ, एवं प्रकृति, मनुष्य, सुख-दुख, जीवन सब के साथ एकात्म होकर चलने वाली नई संस्कृति गढ़ना चाही। गुप्तजी ने बंधनों और विधि-निषेधों के भीतर से ही एक नए जीवनदर्शन को देने की चेष्टा की। उन्होंने सहज कौटुम्बिक और नैतिक आदर्शों को अपने काव्य में पुनर्स्थापना की और उनकी उदात्त कर्म-कठोर, निर्भय, साहसिक वाणी ने सारे हिन्दी-प्रदेश को एक नई कर्म-दीप्ति से भर दिया। कहीं पद्य में, कहीं गद्य में, कहीं गद्य-पद्य में उन्होंने साहस, करुणा, मैत्री, बलिदान और नई सामाजिकता और राष्ट्रीयता का संदेश देश के सामने रखा। गांधीदर्शन की सबसे अधिक और सबसे कलात्मक अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई।

२—कल्पना

द्विवेदीयुग के काव्य में कल्पना लांछित थी। बँधी-सधी उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ। अधिकतर यह भी नहीं। केवल वर्णनात्मक और इतिवृत्तात्मक छंदोबद्ध विचार या भाव। मैथिलीशरण का अधिकांश काव्य इसी तरह का है। उसमें कल्पना का उद्रेक अधिक नहीं है। जिस नैतिकताप्रधान, काम-काजी,

सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण में कविता की सृष्टि हो रही थी, वह कल्पना की उड़ान के लिए विशेष उपयोगी नहीं था। परंतु द्विवेदीयुग के अन्य कवियों के समक्ष में मैथलीशरण गुप्त की रचनाएँ फिर भी अधिक सरस हैं, उनमें फिर भी कल्पना की कुछ छोटी-बड़ी उड़ानें हैं इसमें संदेह नहीं। बात यह थी कि हरिश्चंद्र-युग में इतने अधिक श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि नहीं हुई कि वह द्विवेदीयुग के कवियों के लिए आदर्श बनता। इससे उनका सीधा संबंध रीति-काव्य से जुड़ जाता था। रीतिकाल में कल्पना की उड़ानें इतनी अधिक थीं कि उनकी प्रतिक्रिया के कारण द्विवेदीयुग का काव्य नीरस होने लगा। जब उसमें नर-नारी के प्रकृत प्रेम का ही बाध था, तो फिर ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ होती कहाँ ? 'त्रिशूल' (गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही') ने ब्रजभाषा कवियों का व्यंग इस तरह उड़ाया—

मॉं भारती, तुम्हारा चलन देख देख कर,
नवनायिका से नित्य लगन देख देख कर,
परकीया में लगा हुआ मन देख देख कर,
उजड़ा हुआ स्वदेश का बन देख देख कर,
आकुल अजस्र धार से आँसू बहा रही,
होकर अधीर धैर्य भवन है ढहा रही।

इस परिस्थिति में कहाँ रस, कहाँ कल्पना, कहाँ कला। सीधा-सादा यथाचित्रण ही काव्य हो गया। परंतु, इससे यह नहीं समझा जाये कि द्विवेदीयुग का कवि नितांत कल्पना-शून्य था। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त की कविता में अनेक उत्कृष्ट कल्पना-चित्र मिलेंगे। लक्ष्मण-ऊर्मिला का यह चित्र देखिये—

"नङ्गी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से,

रोक सकता हूँ उरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से।
किन्तु क्या करूँगा यहाँ !" उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाये पग दोनों ओर ऊले-से,
'हैं-हैं' कह लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर,
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले से ।

इसी तरह अयोध्या का यह चित्र—

कामरूपी वारिदों के चित्र-से,
इन्द्र की अमरावती के मित्र-से ।
कर रहे नृप-सौध गगन-स्पर्श हैं,
शिल्प-कौशल के परम आदर्श हैं ।
कोटि कलशों पर प्रणीत विहङ्ग हैं,
ठीक जैसे रूप, वैसे रंग हैं ।
वायु की गति गान देती है उन्हें,
बाँसुरी की तान देती है उन्हें ।
ठौर ठौर अनेक अध्वर यूप हैं,
जो सुसंवत् के निदर्शन रूप हैं ।
राघवों के इन्द्र-मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी-से खड़े ।
मूर्तिमय, विवरण-समेत, जुदे जुदे,
ऐतिहासिक वृत्त हैं जिनमें खुदे ।
यत्र-तत्र विशाल कीर्तिस्तंभ हैं,
दूर करते दानवों का दम्भ हैं ।

इस प्रकार के अनेक उत्कृष्ट कल्पना-चित्र गुप्तजी के काव्य में मिलेंगे। परंतु इन चित्रों का इतना बाहुल्य नहीं जितना छाया-वाद के काव्य में। काव्यगत संयम का अंत तक निभाया गया है। कल्पना का अत्यधिक विलास काव्य को खिलवाड़ बना देता है—'साकेत' और 'द्वापर' का कवि इस बात को जानता है।

स्वयं कल्पना के उद्दीप्त होने के भी अनेक ढङ्ग हैं। 'साकेत' में राम के कौटुम्बिक जीवन और ऊर्मिला-लक्ष्मण के प्रेम-प्रसंगों में जिस विविध-तरंगिणी कल्पना का चित्रण हुआ है, वह कवि को साधारण कवि से बहुत ऊपर उठा देती है। इसी प्रकार 'सिद्धराज' में सारी ऐतिहासिक कथा को अत्यंत बारीकी से खड़ा किया गया है। पात्रों का हावभाव, विलास, अंग-भङ्गिमाएँ, वार्तालाप, प्रतिक्रियाएँ—न जाने क्या क्या कल्पित है। वस्तुतः मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में हम नाटककार और कथाकार (उपन्यासकार) के उत्कृष्ट चिह्न देखते हैं। यदि वे इन क्षेत्रों को अपनाते तो विशेष कृती होते, इसमें संदेह नहीं। उनकी कल्पना प्रकृति-चित्रों, उपमानों और ऊहापोहात्मक आरोपों में अधिक नहीं चलती। जहाँ मानव हृदय के द्वंद्वों, संघर्षपूर्ण परिस्थितियों या कौटुम्बिक जीवन के चित्र हैं, वहाँ उनकी कल्पना आश्चर्यजनक रूप से सजीव और सफल है।

३—सौन्दर्य : मानव और प्रकृति

द्विवेदीयुग का कवि सौन्दर्यनिष्ठ नहीं है। उसने जीवन के गद्य से ही विशेष परिचय प्राप्त किया है। इसी से नर-नारी के सौन्दर्य के अधिक चित्र उसमें नहीं मिलेंगे। रीतिकाव्य में जो प्रचुर मात्रा में—'राधा कन्हाई सुमिरन' के बहाने सही—उपस्थित थी, उसे दुहराते रहना कवि के लिए लांछा की बात रहती। फिर भी 'साकेत' और 'पंचवटी' में मानवसौन्दर्य के कुछ अच्छे चित्र हैं। 'साकेत' में कवि की प्रतिभा जैसे द्विवेदीयुग के बन्धनों में बँधी रहना ही नहीं चाहती। 'साकेत' की सीता और ऊर्मिला के चित्रों को हम अन्यत्र उद्धृत कर चुके हैं। 'पंचवटी' के लक्ष्मण का वीर-धनुर्धर चित्र तो प्रसिद्ध ही है। 'चित्रकूट' में राम का एक चित्र देखिये—

तरु-तले विराजे हुए,—शिला के ऊपर—
कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भूपर,
निज लक्ष्य-सिद्धि-सी, तनिक घूम कर तिरछे,
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के बिरछे—
उन सीता को, निज मूर्तिमयी माया को,
प्रणयप्राणा को और कान्तकाया को,
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी,
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी !

गुप्तजी के काव्य में ऐसे अनेक चित्र हैं। परंतु वे रीति-कवियों की तरह हाथ धोकर सौन्दर्य के पीछे नहीं पड़ गये हैं।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में प्रकृति-चित्रण अधिक नहीं है। जो है, वह वीथिका के रूप में। गुप्तजी मानव-हृदय के द्वन्द्वों-प्रतिद्वन्द्वों, गीतात्मक परिस्थितियों और कथा-विकास की योजनाओं में उलझे रहते हैं। उन्हें बाहर प्रकृति के सौन्दर्य को देखने का अवसर अधिक नहीं मिला है। प्रकृति का प्रवेश आधुनिक हिन्दी कविता के पहले ही चरण में श्रीधर पाठक द्वारा हो गया था, परंतु द्विवेदीयुग में सीधे प्रकृति से प्रेरणा लेने की जगह, कवि उसे काव्यों और शास्त्रों के माध्यम से देखने लगे। उनके नागरिक भावों ने या तो उन्हें नगर के बाहर के स्वतंत्र प्राकृतिक वैभव की ओर दृष्टि ही डालने न दी, यदि उन्होंने दृष्टि डाली भी तो वे प्रकृति से आत्मभाव स्थापित नहीं कर सके। प्रकृति का पहला उन्मुक्त, आह्लाद-प्रधान एवं रहस्यात्मक चित्रण आधुनिक युग में छायावाद काव्य में ही मिलेगा। गुप्तजी की रचनाएँ हमें प्रकृति के अन्तरतम प्रदेश में नहीं ले जातीं। 'साकेत' के चित्रकूट प्रसंग में सीता के वनदेवी-रूप के लिए जो कुछ प्रकृति का सुंदर चित्रण हो सका है, वह उनके काव्य की सामान्यधारा के लिए अपवाद-रूप है।

का हिन्दी में अनुवाद कर इन्होंने बङ्गला की मधुर पदावली का अपनी रचना में समावेश किया। तीसरी अवस्था में अभिव्यंजना की नई प्रणाली का सूत्रपात हुआ। इस समय हमें भाषा के लक्षणामूलक और प्रतीकात्मक प्रयोग के दर्शन होते हैं। मैथिलीशरण गुप्त में नवीन अभिव्यंजना प्रणाली और प्राचीन अलंकार शैली का सामन्जस्य मिलता है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रभावात्मकता को ध्यान में रखकर किया गया है। अभिव्यन्जना की दोनों प्रणालियों में उचित संमिश्रण के साथ इनकी भाषा में सरलता और मधुरता है।" (वही, पृ० १५६-७)

वास्तव में काव्यगत खड़ी बोली के विकास का सारा इतिहास हमें मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में ही मिल जाता है। कुछ उद्धरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी—

ज्योंही विद्रुम पद्मराग सम हैं बिंबोऽठ-शोभा भली
श्रीसंयुक्त सुवर्ण वह यों है ठीक रतनावली ॥
राजा के सुन बैन यों वह हुई रोमांचिता स्तंभिता।
लज्जा-संकुचिता प्रकंपित तथा स्वेदांबु-संशोभिता ॥
(१६०६)

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊं मैं!
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं॥
बीत चुकी है बेला सारी, किन्तु न आई मेरी बारी।
करूँ कुटी की अब तय्यारी, वहीं बैठ पछताऊँ मैं॥
कुटी खोल भीतर आता हूँ, तो वैसा ही रह जाता हूँ॥
तुझको यह कहते पाता हूँ, 'अतिथि, कहो क्या लाऊं मैं।'
(१६१८)

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।

नहीं योगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूरबिन्दु यह—यह हर-नेत्र निहारो!
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो।

(१९३२)

आगे यह मुक्त बात स्वागतार्थ आया,
लो, रसाल-गंध-जात-पुलक भेंट लाया।
दुग्ध-भार मंद मद,
लौट पड़ा धेनु वृन्द,
वेणु-छंद गूँज उठा,
हम्बा रव छाया।
आगे यह मुक्त बात स्वागतार्थ आया।
मृग-मयूर, पेड़-पत्र,
नाच रहे यत्र-तत्र,
फैल गया सांध्यराग, गीत गया गाया।
आगे यह मुक्त बात०

(१९४२)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि १९१० ई० से पहले गुप्तजी का खड़ी बोली का प्रयोग बड़ा अटपटा था। दूसरे दशक के अंत तक वह स्वाभाविक भूमि पर प्रतिष्ठित हो चुका था। 'पंचवटी' (१९२५) भाषाशैली और छंद-निर्वाह की दृष्टि से इस युग की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना है। इसके बाद भाषा में तो विशेष अंतर नहीं पड़ा, परन्तु रचनाओं में साहित्यिकता की मात्रा बढ़ गई और भाषाशैली के कलात्मक प्रयोग होने लगे। 'कुणाल गीत' में मैथिलीशरण गुप्त एक सुन्दर गीतकवि के रूप में सामने आते हैं। वास्तव में १९२५—४० गुप्तजी के काव्य के कलात्मक विकास का युग है। उनके समसामयिक अनेक कवियों ने भाषा के क्षेत्र में उन्हें ही अपना आदर्श बनाया। 'गीतिका' की भूमिका में

निराला जी ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने 'सरस्वती' के अंकों और मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं को सामने रख प्रारम्भिक कविताएँ कीं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि पिछले ५० वर्षों का भाषा-शैली का कुछ भी विकास मैथिलीशरण गुप्त या द्विवेदीयुग के बाहर नहीं हुआ। १९२५ में पंचवटी प्रकाशित हुई। इससे एक वर्ष पहले पन्तजी 'परिवर्तन' लिख चुके थे। इसका एक छन्द देखिए—

अहे वासुकि सहस्र-फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर;
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर,
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर !
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल,
दिङ् - मंडल ।

'पंचवटी' की भाषाशैली, भाव-भंगिमा और भाव-सौंदर्य और इस उद्धरण की भाषा-शैली, भावभंगिमा और नाद-सौंदर्य में महान अन्तर है; परन्तु दिवेदीयुग के काव्य तक ही सीमित रहिए, तो पंचवटी की शैली अपने में पूर्ण है। वह एक विशेष वर्ग की भाषा-शैली की सर्वोच्च उड़ान है। उसी तरह १९४२ में प्रकाशित महादेवी वर्मा के इस छन्द से 'कुणाल गीत' के गीतों की तुलना कीजिये—

प्राण हँसकर ले चला जब
चिर व्यथा का भार !
उभर आये सिन्धु-उर में !
वीचियों के लेख,
गिरि-कपोलों पर न सूखी,
आँसुओं की रेख !

धूलि का तब से न रुक पाया कसक-व्यापार !
शान्त दीपों में जगी नभ
की समाधि अनंत,
बन गए प्रहरी, पहन
आलोक तिमिर, दिगन्त !
किरण-तारों पर हुए हिमबिन्दु वदनवार !
स्वर्णशर से साध्य के
घन ने लिया उर वेध,
स्वप्न-विहगों को हुआ
यह क्षितिज मूक निषेध !
क्षण चले करने कणों का पुलक से शृङ्गार
शून्य के निश्वास ने दी
तूलिका-सी फेर,
ज्वार शत-शत रंग के
फैले धरा को घेर !
वात अणु-अणु में समा रचने लगी विस्तार !

भाषा की यह मधुरिमा, यह सांकेतिकता, यह कल्पना की चित्र-वेला कृष्णानन्दगीतों में नहीं है, परन्तु इससे कृष्णानन्दगीत छोटे नहीं पड़ जाते। लगभग १९१० से १९२० तक खड़ीबोली हिंदी कविता की भाषा और शैली का सब से सुन्दर रूप मैथिलीशरण गुप्त की पदावली में ही मिलता था। पदावली का इतना संस्कृत रूप उस समय के अन्य कवियों में नहीं मिलेगा। छायावाद के प्रधान कवियों को गुप्तजी की संस्कृत पदावली और उनके भाषा-वैभव एवं पदावली की संगीतात्मकता से बड़ी प्रेरणा मिली, इसमें कोई सन्देह नहीं। द्विवेदीयुग की कविता में मैथिलीशरण गुप्त का काव्य वही स्थान रखता है जो मरु-भूमि में जलाशय। अगले दस वर्षों में छायावादी कवियों ने बंगला और हिंदी के सहारे नई भाषा, नई-नई शैलियाँ और नये-नये छन्दों का आविष्कार किया और

इनके सहारे खड़ी बोली की कविता में कलावाद की प्रतिष्ठा की। १६३६ तक आते-आते दोनों काव्यधाराओं में इतना विषम भेद हो गया कि दोनों को कुछ बाह्य रूपों के सहारे बड़ी सरलता से पहचाना जा सकता था। नई कविता (छायावाद) की भाषा-शैली, छन्द, और गीतात्मकता-विषयक अनेक विशेषताओं को गुप्तजी ने ग्रहण कर लिया और इस तरह वे द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि होते हुए भी बाहर लोकमान्य बने रहे। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि खड़ी बोली काव्य के इतिहास में उनका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। वे नींव के पत्थर थे, परन्तु खड़ी बोली काव्य का जो आकाशचुम्बी महल आज दिखाई पड़ रहा है, उसकी नींवों से उठकर बहुत ऊँचे तक इन्हीं नींव के अनघड़ पत्थरों ने काम दिया। बाद में जो पत्थर रखे गये वे अधिक सुचिक्कण, अधिक कलापूर्ण, चित्र-विचित्र अलंकारों से रंजित थे; परन्तु इस काव्य-प्रासाद को दृढ़ता और स्थायित्व तो मैथिलीशरण गुप्त के काव्य ने ही प्रदान किया।

फिर इस काव्य-प्रासाद के नींव के पत्थर ही मैथिलीशरण गुप्त ने नहीं गढ़े। उन्होंने वाणी की अत्यन्त भव्य मूर्ति की प्रतिष्ठा का और इस कलाभवन को अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक और धार्मिक मूर्तियों द्वारा अलंकृत किया। राम, सीता, लक्ष्मण दशरथ, भरत और राम-कथा-काव्य की परम्परा-प्रसिद्ध अनेक भव्य मूर्तियों के साथ उन्होंने नई छैनी से बना-सँवार कर कैकेयी, ऊर्मिला, कौशल्या और सुमित्रा एवं माण्डवी की नई झाँकियाँ गढ़ीं। विरहिणी गोपा और माता यशोधरा के दो अनुपम चित्र उन्होंने दिये। ब्रज के अनेक चित्रों की उन्होंने नई क़लम तराशी और द्वापर-मण्डप के नीचे उन्हें प्रतिष्ठित किया। उस मण्डप में क्या नहीं है ? फिर शकुन्तला, तिलोत्तमा, चंद्रहास, मैत्री-मूर्ति बुद्ध (अनघ), दुर्गा (शक्ति), पंच पांडव और द्रौपदी, कुणाल, दशों सिक्ख गुरु और नहुष, सिद्धराज एवं अनेक राजपूत वीरों

की कला और कल्पना के हाथों गढ़ी अनेक अन्य मूर्तियाँ भी इस काव्य-प्रासाद को गौरवमय बना रही हैं। आधुनिक हिंदी काव्य में पूर्व-पश्चिम का बहुत कुछ है, परन्तु इतना गौरवमय अतीत कहाँ एक साथ मिल सकेगा? फिर इस भारती-भवन के ऊपर अपने ही राष्ट्र की प्रेम-पताका फहरा रही है। गुप्तजी भारती के ही कवि नहीं हैं, 'भारत-भारती' के भी कवि हैं। 'किसान' और 'अजित' जैसे काव्यों में उन्होंने सामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर से अपने युग के उपेक्षित, सामान्य, सब तरह से साधारण नये सत्याग्रही वीरों की मूर्तियाँ भी सजाई हैं। इतनी बड़ी चित्रपटी, युग-विशाल भारत का इतना बड़ा गौरव-मूर्ति-संग्रह और कहाँ मिलेगा!

परन्तु यह सच है कि इन मूर्तियों में सब एक ही तरह कला-पूर्ण नहीं हैं। उनकी सजधज नवीन है, कला-सौष्ठव की नितांत सादगी और निरालंकृत सज्जा में भी वह हमें अनुप्राणित कर सकी हैं, आगे भी अनुप्राणित कर सकेंगी, यही कम गौरव का विषय नहीं। गद्य के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचन्द और कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त एक ही युग, एक ही कलादृष्टि, एक ही नवीन राष्ट्रीय चेतना के प्रतिनिधि हैं। वाणी-मन्दिर में उनका स्थान पास-पास है। भाषा, कला और कल्पना का कालिदासी गौरव उनमें नहीं सही, भारत की आत्मा, भारत की सांस्कृतिक साधना से उनके मस्तक तेजोमय हैं। उन्होंने वाणी-मन्दिर पर फिर एक बार राष्ट्र की चक्र-पताका उड़ाई है। वाणी की वरद मङ्गल-छाया उनके ऊपर है। आज वे धन्य हैं।
